# प्रह्लाद

(पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति जन्म-शती श्रद्धांजलि-अङ्क)

सम्पादक
**डा० विष्णुदत्त राकेश**
एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

संयुक्त-सम्पादक
**डा० विनोदचन्द्र सिन्हा**
एम०ए०, पी०एच-डी०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

अप्रैल, १९९०

**गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**

संरक्षक
प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एवं उप-कुलपति

प्रकाशक
डा० वीरेन्द्र अरोड़ा
कुलसचिव

व्यवस्थापक
जगदीश विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष

मुद्रक
जैनेन्द्र प्रिंटर्स
ज्वालापुर

# विषय सूची



विश्वविद्यालय के संस्थापक : स्वामी श्रद्धानन्द

बलिदान तिथि २३ दिसम्बर १९२६

(जन्म—फरवरी, १८५६)



हिन्दी पत्रकारिता के पितामह, गुरुकुल के प्रथम स्नातक एवं कुलपति, स्वतंत्रता सेनानी, प्रखर सांसद तथा आर्यसमाज एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नायक ***पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति।***

# वैदिक-वन्दना

**प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु,**
**प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।**

अथर्व० १९.६२.१

करो मुझे देवों का प्यारा ।
चारो वर्ण सगठित होकर बने राष्ट्र का सुदृढ सहारा ॥
तप विद्या से करते जनहित,
धारण करते नित्य सत्य ऋत,
उन विद्वान् ब्राह्मणों का कर तू मुझको प्रभु राजदुलारा ॥
जिनका अपरिमेय हो भुजबल,
जिनका शौर्य बने जनसबल,
उन आदर्श राजपुरुषो की सदा रहूँ आँखो का तारा ॥
धन, सम्पत्ति, अन्न, आच्छादन,
गोधन, गजधन और वाजिधन,
प्रिय हो वैश्य, बाँट देते जो देश जाति हित वैभव सारा ॥
शिल्प प्रवीण कला विज्ञानी,
सेवक शूद्र शातिप्रिय प्राणी,
निज कर्त्तव्यो का पालन कर अविचल करें राष्ट्र ध्रुवतारा ॥
प्रिय हो मुझे चराचर प्राणी,
कहती पुण्य ऋचा कल्याणी,
नहीं जन्म पर, कर्माश्रित ही होगा वर्ण विभाग हमारा ॥
करो मुझे देवो का प्यारा ॥

—डा० विष्णुदत्त राकेश

जन्म-शताब्दी पर

# साहित्यवाचस्पति पण्डित इन्द्र : सौ वर्षों के प्रयोगों और परम्पराओं के प्रतिमान

डा० कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने पण्डित इन्द्र जी की जुझारु पत्रकारिता का सकेत करते हुए १४ जुलाई १६३५ के 'विकास' के मुखपृष्ठ पर लिखा था कि आपके पत्र अर्जुन की दो हजार रुपये की जमानत क्वेटा सम्बन्धी लेखों के कारण ज़ब्त कर ली गई है और अब उससे पाँच हजार रुपये की एक और जमानत माँगी गई है। आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की रक्षा करते हुए भारतीय आजादी की लडाई लडने वाले एक पत्रकार का अग्रेजी राज मे इससे अधिक और क्या हश्र हो सकता था। पण्डित इन्द्र जी का पत्रकारिता के क्षेत्र मे पदार्पण १६१३ से हुआ जब 'सद्धर्म प्रचारक' हिन्दी मे निकलना शुरू हुआ। सद्धर्म प्रचारक मुख्यत: धार्मिक पत्र था पर उसमे तत्कालीन राजनीतिक गतिविधिओ पर भी टिप्पणियाँ रहती थी। उदाहरण के लिए १६०८ मे तिलक जी की गिरफ्तारी के बाद स्वामी जी की टिप्पणियाँ तथा १६०६ मे पटियाला के अभियोग पर दी गई टिप्पणियाँ स्वामी जी की क्रांतिकारिता को प्रकट करती हैं। जनवरी १६१० के सद्धर्म प्रचारक मे उद्धृत यह टिप्पणी अवलोकनीय है— 'सरकार को याद रखना चाहिए कि दमन किसी भी धर्म की प्रगति को रोकने मे सदैव असमर्थ रहा है तथा शहीदो का रक्त सदैव चर्च (धार्मिक सस्था) की नीव को शक्तिशाली बनाता है।'

२६ अगस्त १६०८ के अक मे तिलक जी के निर्वासन पर लिखा— 'मद्रास, बम्बई और बंगाल के प्रात आजकल राजद्रोह के मुकदमो के घर बन रहे हैं। कही राजद्रोह के मुकदमे समाप्त हो गए हैं। कहीं अभी चल रहे हैं। राजद्रोह के मुकदमे सख्या मे इतने अधिक हो गए हैं कि साधारण लोगो का तो कहना ही क्या है, सम्पादको को भी सबका नोटिस लेना कठिन प्रतीत हो रहा है।' इतना होने पर भी इन्द्र जी शुद्ध राजनीतिक पत्र निकालने के लिए बेचैन हो उठे। १६१८ मे दिल्ली मे हुए कांग्रेस अधिवेशन मे उन्होने दिल्ली से पत्र निकालने का निश्चय किया। १६१६ मे विजय नामक पत्र निकाला। क्योकि यह युग अग्रेजी और उर्दू की पत्रकारिता का था अत: इसकी ग्राहक सख्या बहुत कम थी। प० इन्द्र जी ध्येयनिष्ठ पत्रकार थे अत: विजय को अशाति का वैतालिक बनाकर वह स्वतत्रता

संग्राम मे कूद पडे। 'विजय' दिल्ली के राजनीतिक जन-जागरण का चारण बना। प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण विजय बन्द हुआ तो १९२८ की अप्रैल मे अर्जुन निकाला। अंग्रेजी सरकार की कोपदृष्टि अर्जुन पर पड़ी और इन्द्र जी को छह मास का कारावास भोगना पडा। १९३० मे अपने सरकारविरोधी लेखो के कारण नौ मास का कारावास भोगना पडा। यह समय नमक सत्याग्रह का था। अर्जुन अंग्रेजी सरकार के साथ जूझ रहा था। बद कर दिया गया पर अर्जुन ने हार नही मानी। तीस वर्ष तक उठता गिरता अर्जुन 'न दैन्य न पलायनम्' की प्रतिज्ञा का गाण्डीव तत्परता से संभाले रहा। अर्जुन के अग्रलेखो का जिस दिन सकलन-सम्पादन हो जाएगा उस दिन स्वाधीनता आन्दोलन मे हिन्दी पत्र-कारिता का अध्ययन करते वालो को निर्भीक, नि:स्पृह तथा स्वतत्र पत्रकारिता का दस्तावेज उपलब्ध हो जाएगा। स्वदेश, प्रभा, प्रताप, सैनिक, अभ्युदय, विकास, ब्रजवासी, गढवाली, आज, स्वराज्य, समय, सुधा, सुकवि, शक्ति, देशमित्र, अवध अखबार, चाँद, रण डका, युद्धवीर, गणेश, हिन्दुस्तान तथा हटर जैसे पत्रो के साथ विजय और अर्जुन का नाम गौरव के साथ जोडा जा सकेगा। खिलाफत एव असहयोग आन्दोलन से लेकर स्वाधीन भारत तक का इतिहास अपनी विभिन्न समस्याओ के साथ विजय और अर्जुन मे मुखरित है। हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता की समस्या निहित है, स्वदेशी आन्दोलन की ललकार है और उग्र विचारधारा तथा क्रातिकारियो के पक्ष मे अग्रलेख और टिप्पणियाँ हैं। १९१९ की 'होम पालिटिकल डिपार्टमेंट प्रोसिडिंग्स' से पता चलता है कि स्वामी श्रद्धानद और प० इन्द्र ने किस प्रकार खिलाफत आन्दोलन मे आर्यसमाज को सक्रिय किया। १९२१ मे इन्द्र जी तथा सत्यदेव परिव्राजक अहमदाबाद काग्रेस अधिवेशन मे सम्मिलित हुए। असहयोग के दिनो मे इन प्रखर सेनानियो के कारण गुरुकुल आन्दोलन का एक प्रमुख केन्द्र था। १९३० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे सर्वश्री देव शर्मा, भीमसेन, जयदेव, दीनदयालु, रामेश्वर, गुरुदत्त, पूर्णचन्द्र, वासुदेव, विश्वनाथ, सत्यदेव और धर्मवीर के साथ पण्डित इन्द्र अग्रणी थे। पण्डित जी जब नमक सत्याग्रह करने पर दिल्ली मे गिरफ्तार हुए तो उनसे प्रेरित होकर गुरुकुल के स्नातको ने सहारनपुर जाकर नमक कानून को तोड़ा। एक पत्र इस अवसर पर इन्द्र जी सहित उक्त बारह स्नातको के हस्ताक्षरो से प्रसारित हुआ था। उसमे लिखा था—"हम सब गुरुकुल माता के पुत्रो की परीक्षा का समय आ गया है। आज हमारा देश अपनी सदियो की गुलामी से छूटने का सकल्प करके विश्वविभूति महात्मा गाँधी के नेतृत्व मे अन्तिम लडाई लडने के लिए उठ खडा हुआ है। क्या हम गुरुकुल के स्नातकगण इस अवसर पर पीछे रहेगे? हमारे इस दिव्य राष्ट्रनेता का महान् संकल्प है कि अब हम पूर्ण स्वाधीनता पाकर ही जिन्दा रहेगे? नही तो इस लडाई मे मर मिटेगे। इस पत्र को पाते ही गुरुकुल का ऐसा पुत्र एक भी नही रहना चाहिए जिसने अभी तक खद्दर पहनने का व्रत भी न लिया हो।" पण्डित पूर्णचन्द्र तथा दीनदयालु शास्त्री इस आन्दोलन के नायक बने। यह सब लिखने का हमारा उद्देश्य यही है कि इन्द्र जी का दृष्टिकोण सर्वथा राष्ट्रीय था और यातनाएँ सहकर भी वह कर्त्तव्यपथ से विचलित होने वाले न थे। उनके सामने अमर शहीद यतीन्द्रनाथ दास का बलिदान था। वह इतने भावुक हो

गए थे कि शहीदों की तरह मर-मिट जाना चाहते थे। उन्होंने लिखा— 'हे अग्नि के पतिंगे, तुम तो चल दिए पर गजब कर गए, इस सूखे हुए जंगल में आग लगा गए। जलियावाला बाग ने वह आग नहीं लगाई थी जो तुमने लगा दी है। तुमने अपनी कुर्बानी से जो आग लगाई है वह आसानी से नहीं बुझेगी। वह ऐसी धधकेगी कि इसकी ज्वालाओं की ज्योति लंदन के पार्लियामेंट के हाल पर दिखाई देगी। इसकी तपिश किंग जार्ज की आरामगाह में पहुँचकर वहाँ के निवासियों को बेचैन कर देगी।" पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय की जीवनी में इन्द्र जी ने लिखा— 'स्वतंत्रता का सुकुमार पौधा जिस पोषक पदार्थ पर पनपता है, वह पोषक द्रव्य शहीद का खून है। फांसी लगाने वाले की रस्सी या जल्लाद की कुल्हाड़ी या बन्दूकची की गोली केवल व्यक्तिगत जीवन को बुझा देती है किंतु इससे आगे यह एक और काम करती है और वह यह कि सामूहिक इच्छा को अधिक तीव्र और बलवती बना देती है।'

नवयुवकों में बलिदान, स्वातंत्र्य और राष्ट्ररक्षा की भावना कूट-कूट कर भरने के लिए उन्होंने जीवनी साहित्य का निर्माण किया। लोकमान्य तिलक, नेहरू, महर्षि दयानन्द, गेरीबाल्डी, बिस्मार्क, यतीन्द्रनाथ दास, लाला लाजपतराय तथा जीवन-ज्योति उनकी आदर्श जीवनियाँ हैं। जीवन-ज्योति में राम, कृष्ण, बुद्ध, नानक, प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ, डा० शान्तिस्वरूप भटनागर, वेंकटरमन, महात्मा गाँधी, डा० राजेन्द्रप्रसाद के आदर्श जीवन पर प्रकाश डाला गया है। राष्ट्र के इन स्मरणीय पुरुषों के जीवनचरित्ररूपी मकरंद से परिचय कराना ही पण्डित जी का उद्देश्य रहा है। राजधर्म पाक्षिक के १ मार्च १९७० के विशेषाङ्क में संकलित उनके लेख की इन पंक्तियों से उनका उद्देश्य स्पष्ट हो जाएगा— 'राष्ट्र के व्यक्तियों में राष्ट्र के प्रति अगाध प्रेम हो, जिसके कारण वे किसी बड़े से बड़े प्रलोभन या भय के असर में आकर भी राष्ट्र के साथ द्रोह न कर सकें। विश्वास की सच्चाई, विश्वास के लिए मर मिटने की भावना और सम्मान से जीवित रहने की प्रबल इच्छा— यह बल चरित्र के व्यावहारिक रूप है जिसका निर्माण आचार सम्बन्धी पवित्रता के आधार पर ही हो सकता है।' जीवन संग्राम में उतरने वाले प्रत्येक नौजवान के लिए यह दृष्टिकोण सबल होगा। महापुरुषों की जीवनी पथप्रशस्त करती हैं। स्वतंत्रता को एकमात्र लक्ष्य मानकर चलने वाले इन संघर्षशील चरित्रों से स्वतंत्रता की रक्षा करने की प्रेरणा मिलती है; वह प्रेरणा जो राष्ट्रीय जीवन और समाज में व्याप्त जड़ता को दूर करने का विवेक और साहस देती है।

हिन्दी में जीवनी साहित्य में स्वदेशी तथा विदेशी —दोनों परम्पराओं के महापुरुषों को नायक बनाया गया है। आर्यसमाजी लेखकों में लाला लाजपतराय ने शिवाजी की जीवनी उर्दू में लिखी जिसका बाद में हिन्दी में रूपान्तर हुआ। भाई परमानन्द ने बन्दा-बैरागी तथा हरविलास शारदा ने राणा सांगा का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया। पण्डित इन्द्र जी ने इस विधा को समृद्ध किया तथा स्वदेशी-विदेशी महापुरुषों का जीवनचरित्र लिखकर वैविध्य भी

प्रस्तुत किया। उनसे प्रेरित होकर सत्यदेव जी ने स्वामी श्रद्धानन्द की जीवनी लिखी। श्री रामगोपाल विद्यालंकार ने स्वामी श्रद्धानन्द और आचार्य रामदेव का जीवन-चरित्र तथा श्री चन्द्रगुप्त वेदालंकार ने स्वातंत्र्यवीर सावरकर की रचना की। भूदेव विद्यालकार की 'स्वाधीनता के पुजारी' इसी परम्परा की रचना है। इन सब के प्रेरक पण्डित इन्द्र ही कहे जा सकते हैं।

इतिहास, युगबोध और मानवीय सवेदना के आधार पर उच्च कोटि के सस्मरण-लेखक के रूप मे भी पण्डितजी को याद किया जाएगा। आर्यसमाजी लेखको में हिन्दी सस्मरण कला के प्रवर्तक थे आचार्य पद्मसिंह शर्मा। स्वामी श्रद्धानन्द पर लिखे उनके सस्मरण का प्रभाव इन्द्र जी पर भी पडा। 'मेरे पिता' नाम से उनके सस्मरण स्वामी श्रद्धानन्द जी पर ही छपे। 'मेरे पिता' के बाद, मैं इनका ऋणी हूँ, उनके सस्मरणों का सकलन है। इसके अतिरिक्त दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन, मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव तथा चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला भी तीन फुटकर सस्मरण हैं। स्वामी श्रद्धानन्द, तिलक, गांधी जी, मोतीलाल नेहरू, मालवीय जी, शिवप्रसाद गुप्त, सरदार पटेल, सुभाष, देवदास गांधी, हकीम अजमल खाँ तथा प्रेमचन्द पर लिखे सस्मरण उल्लेखनीय हैं। सस्मरणो की भाषा प्रभावक और चरित्र-चित्रण मार्मिक है। उदाहरण लें—

'रोबीली सौम्यमूर्ति, शिष्टाचार से भरा हुआ मधुर स्वर। दूसरो के हृदय मे घुस कर उनके भावो का चित्र ले लेने वाली आँखे। बडे-बडे झगडालुओ को मैंने उनके कमरे मे भीगी बिल्ली की तरह नरम होते देखा।' (हकीम अजमल खाँ)

'मैंने जुलूस तो सैंकडो देखे परन्तु असली जोश और जीवित उत्साह मुझे शायद ही किसी मे मिला हो। बाजारो मे नरमुण्ड ही नरमुण्ड दिखाई देते थे। हरेक व्यक्ति तिलक महाराज की जय के नारो से आकाश फोड रहा था। जनता के कोलाहल से उनके चेहरे पर न विक्षोभ की झलक दिखाई देती थी और न जनता के सत्कारप्रदर्शन से होठो पर मुस्कुराहट दौडती थी। उनके गभीर तेजस्वी नेत्र और स्थिर निश्चिन्त निश्चल होंठ न तूफान मे हिलते थे और न प्रभात के पवन मे खिलते थे। उनमे मातृभूमि की पराधीनता की भावना मानो फौलाद बनकर बैठ गई थी।' (लोकमान्य तिलक)

'मैंने अनुभव किया कि मैं अकेला रह गया। मेरे बडे भाई पहले ही विलायत जाकर लापता हो चुके थे, पिता जी चले गए और अब इस तूफानी दुनियाँ मे आकाश और पृथ्वी के बीच मैं अकेला लटकता रह गया। मन मे वह भाव आते ही मेरा वह कृत्रिम धर्म और स्थिर भाव जाता रहा और आंसू मानो बाँध तोडकर वह निकले।' (मेरे पिता)

कहना न होगा कि सस्मरणलेखन मे जहाँ उन्होने स्मरणीय व्यक्ति की बाह्य रूप-

रेखा को सफलतापूर्वक उकेरा है, वहाँ उसके व्यक्तित्व के विधायक दुर्लभ गुणो और विशेषताओ को प्रभावक रूप में प्रस्तुत किया है। इन मार्मिक सस्मरणो के लेखन में उनका पत्रकार हावी रहा है। रिपोर्टिंग का आनन्द भी पाठको को मिलता चलेगा।

गुरुकुल कांगडी के उपन्यासकार-स्नातको मे पण्डित इन्द्र, डा० सत्यकेतु, श्री सत्यकाम, श्री सत्यपाल, विराज तथा आनन्दवर्धन के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्द्र जी मुगल साम्राज्य और ब्रिटिशकालीन भारत के गभीर अध्येता थे। उन्होने इतिहासकार के रूप मे इन दोनो युगो पर महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। 'शाहआलम की आँखे' लिखते हुए उनके सामने मुगल-साम्राज्य के पतन की मार्मिक कथा रही है। जमीदार, सरला की भाभी, सरला, आत्मबलिदान तथा अपराधी कौन उनके अन्य उपन्यास है। शाहआलम आँखें कथ्य की दृष्टि से प्रभावक है पर कथासयोजन और भाषागत शैथिल्य के कारण हलका भी। यह उनका प्रथम उपन्यास है जो १६१८ मे प्रकाशित हुआ। आत्मबलिदान १६३८ मे प्रकाशित हुआ और यह उनका अन्तिम उपन्यास है। प्रेमचन्द और प्रसाद के कथा साहित्य का इन रचनाओ पर गहरा प्रभाव पड़ा है। ऐतिहासिक उपन्यास की रचना करते हुए उन्होने मुगल शासन सम्बन्धी इतिहासग्रन्थो का आधार भी लिया। ह्रासोन्मुखी हिन्दू सामतवाद और मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुख काल मे तेजसिंह जैसे स्वाभिमानी राजपूत की अवतारणा कर स्वातंत्र्य-चेतना का सूत्रपात लेखक ने किया। तेजसिंह के व्यक्तित्व का प्रस्फुटन उसके इन वाक्यो में होता है— 'जो विदेशी है, वह जब तक मेरे देश की स्वाधीनता पर बन्धन डालता है, मेरा शत्रु है।' तेजसिंह और कमला का लालकिले पर आक्रमण इसका व्यग्यार्थ है जो मानों सदेश देता है कि नर-नारियो को मिलकर ही आजादी की लडाई लडनी है। गृहस्थ की भोगमयी दीवारो को लांघकर नारी का राष्ट्रोत्थान की बलिवेदी पर कूदने के लिए तैयार होना आर्यसमाज के नारी जागरण का ही एक हिस्सा कहा जा सकता है।

'जमीदार' मे किसान-मजदूरो के शोषण और ग्राम्य-व्यवस्था के वैषम्य की कहानी कही गई है। शोषितवर्ग की दुरवस्था को देखकर पाठको के मन मे क्षोभ जाग्रत कराया गया है। इस उपन्यास की लेखनगत दृष्टि समाजसुधार कही जा सकती है। रूपचन्द्र और गजेन्द्रसिंह आततायी, विलासी, अकर्मण्य और धूर्त जमीदारवर्ग के प्रतिनिधि हैं। तुलसी और सुखिया शोषित, पददलित, हीनवर्ग के प्रतिनिधि हैं। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध ये अन्त तक लड़ते है। रूढियो और थोथी मान्यताओ से ग्रस्त हिन्दू समाज के भीतरी घात-प्रतिघात इस उपन्यास मे सफलता के साथ चित्रित है।

अपराधी कौन मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। इसका नायक उम्मेद शोषित मजदूर है तथा पूंजीवादी व्यवस्था की घिनौनी चक्की मे पिसते हुए आम आदमी का प्रतिनिधि है। अनाथ बालक की परिस्थितिवश बढती हुई उद्दण्डता का स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

वह किस तरह डाकू बनता है और डाकू बनाने मे उसके समाज का क्या योगदान है ? यही इस उपन्यास का विषय है। जेल मे रहते हुए उम्मेद की रहमतुल्ला द्वारा की गई हत्या एक कारुणिक दृश्य उत्पन्न करती है। इस उपन्यास में जन्मना ऊँचे किन्तु कर्मणा नीचे व्यक्तियो पर करारा व्यग किया गया है। कन्नोजिया तिवारी ऐसे ही पात्र हैं जो जुआ खेलकर शराब पीकर, वेश्यागमन करके भी ब्राह्मण हैं और ऐसे शुद्ध ब्राह्मण कि कभी किसी के हाथ का बनाया भोजन तक नही करते। इस उपन्यास को पढने से विधवा जीवन, धार्मिक आडम्बर, शिक्षा की हीनता, निर्धनता और चारित्रिक कमजोरियाँ का सजीव परिचय मिलता है। लेखक का कहना है कि अपराधी दण्डनीय नही, वे व्यक्ति दण्डनीय हैं जो निहित स्वार्थ के कारण ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं, जिनके दबाव से अपराधो का जन्म होता है।

'आत्मबलिदान' स्वतत्रता सग्राम के परिवेश मे रचित उपन्यास है। इसकी नायिका सरला १९३४ के बिहार भूकम्प से सक्रिय होती है तथा स्वयसेवी रामनाथ तिवारी से मिलकर समाजसेवा के क्षेत्र मे कूद पडती है। रामनाथ और सरला राजनीति मे एक-दूसरे के पूरक हो जाते हैं। सरला का तिरगे झडे के साथ 'करो या मरो' आन्दोलन का नेतृत्व राष्ट्रप्रेम की अद्भुत झाँकी प्रस्तुत करता है। यह भावना अपने चरमोत्कर्ष पर उस समय पहुँचती है जब सरला सेक्रेट्रियेट पर प्रदर्शन करती हुई अग्रेज अफसर की गोली का शिकार बन जाती है। इस बलिदान से नारियो का स्वाधीनता सघर्ष सफल होता है। इस त्रासदी का चित्र इन्द्र जी के शब्दो मे सुनिए— 'सरला देश पर हुतात्मा हुई, इससे बडा सौभाग्य किसी को क्या मिल सकता है ? साथ ही वह एक देशभक्त कहलाने वाले पुरुष के घोर अहकार और हठीलेपन की शिकार हुई, इसमे भी सन्देह नही।' सविनय अवज्ञा आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर रचित इस उपन्यास की कथा उनके जीवन के निकट की घटनाओ से बुनी गई है।

पण्डित जी के पास इतिहास की पैनी दृष्टि थी। आर्य समाज का इतिहास, भारतीय सस्कृति का प्रवाह, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्राचीन भारत मे स्त्रियो की स्थिति, मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण, भारतेतिहास, भारतीय स्वाधीनता सग्राम का इतिहास तथा भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य उनकी ऐतिहासिक कृतियाँ हैं। वैदिककाल से लेकर स्वतत्र भारत तक के इतिहास पर उन्होने लेखनी चलाई है। आर्य समाज क्योकि भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन पर बल दे रहा था अत भाई परमानन्द, पण्डित भगवद्दत्त, आचार्य रामदेव और पण्डित इन्द्र जी दत्तचित्त होकर इस कार्य मे लगे। इन्द्र जी के इतिहासग्रन्थ अत्यन्त खोजपूर्वक लिखे गए हैं। भारतीय आर्य सस्कृति, सभ्यता, साहित्य, दर्शन और वाङ्मय (ज्ञान, विज्ञान) की उपलब्धियो की जानकारी हिन्दी माध्यम से देकर ये इतिहास लेखक यह बतला रहे थे कि अग्रेजी विद्वानो द्वारा लिखा गया या उनकी पद्धति पर भारतीय विद्वानो द्वारा लिखा गया इतिहास अपूर्ण और अशुद्ध है। उससे भारतीय गौरव का

स्वरूप स्पष्ट नही होता। पाश्चात्य इतिहासज्ञों की मान्यताओं पर स्वयं महर्षि दयानन्द ने प्रहार किया था। जयचन्द्र विद्यालंकार, सत्यकेतु विद्यालंकार तथा हरिदत्त वेदालकार ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। बाद में डा० सत्यकेतु जी ने इन्द्र जी के आर्य समाज के इतिहास की सर्वांग पूर्ति कई खण्डो मे आर्य समाज का बृहद् इतिहास लिखकर की। सस्कृत साहित्येतिहास के लेखन की परम्परा मे उनका संस्कृत साहित्यानुशीलन भी मौलिक और उपादेय ग्रन्थ है।

पण्डित इन्द्र जी एक कुशल लेखक ही नहीं, वाग्मी वक्ता भी थे। उन्होने वक्तृत्व कला पर एक पुस्तक 'आधुनिक भारत मे वक्तृत्व कला की प्रगति' भी लिखी जो वाचस्पति पुस्तक भण्डार, जवाहर नगर से प्रकाशित हुई। आर्य समाज में खण्डन-मण्डनात्मक साहित्य लेखन की समृद्ध परम्परा रही है। इन्द्र जी ने इस दिशा मे भी कार्य किया। स्नातक होते ही उन्हे महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी से शास्त्रार्थ करना पड़ा। आर्य समाज की प्रतिगामी विचारधारा के प्रतीकरूप मे इस युग में पण्डित दीनदयालु शर्मा, ज्वालाप्रसाद मिश्र, अखिलानन्द शर्मा, अम्बिकादत्त व्यास तथा चतुर्वेदी जी आगे आए। जिन लोगो ने इन्द्र जी और चतुर्वेदी जी का शास्त्रार्थ सुना है, वह जानते हैं कि पाण्डित्य और युक्तिपूर्वक मान्यताओं के प्रतिपादन मे इन्द्र जी कितने दक्ष थे। यह शास्त्रार्थ प्रकाशित हो गया है। इन्द्र जी के बाद गुरुकुल के स्नातकों मे पण्डित बुद्धदेव विद्यालकार शास्त्रार्थ के लिए प्रसिद्ध हुए। पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालकार, पण्डित सुखदेव विद्यावाचस्पति तथा श्री विद्यासागर ने क्रमश पुराणमत पर्यालोचन, पुराण रहस्य और पुराण विमर्श लिखकर पुराणालोचन के कार्य को आगे बढाया। बहुधन्धी होने के कारण बाद मे पण्डित जी इस ओर से विरत हो गए।

एक लेखक, पत्रकार, इतिहासवेत्ता, स्वाधीनतासेनानी, शास्त्रार्थ महारथी तथा संस्कृत, हिन्दी, अग्रेजी के पण्डित होने के साथ-साथ वह गुरुकुल विश्वविद्यालय के आधुनिकीकरण के प्रस्तोता थे। विश्वविद्यालय मे विज्ञान और मानविकी के नवीन पाठ्यक्रमों का समावेश कराने तथा गुरुकुल की उपाधियों को राजकीय मान्यता प्राप्त कराने मे उनकी विशेष भूमिका रही। वेद कला महाविद्यालय के साथ विज्ञान महाविद्यालय, आयुर्वेद महाविद्यालय तथा सग्रहालय की विशेष उन्नति हुई। वह गुरुकुल को विश्वविद्यालय का दर्जा दिलाना चाहते थे पर यह कार्य डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालकार के कार्यकाल मे हुआ। पण्डित सत्यव्रत जी के प्रबल उद्योग से गुरुकुल को विश्वविद्यालय का स्तर मिला। इन्द्र जी मुख्याधिष्ठाता होकर भी प्राय दिल्ली रहते। उनके समय मे विश्वविद्यालय की अन्तरग व्यवस्था पण्डित धर्मपाल विद्यालकार तथा आचार्य प्रियव्रत जी के हाथो मे रही। १९३४ से १९६० तक का समय पण्डित इन्द्र जी के लिए गुरुकुलीय उत्थान के सकल्प का काल है। वह १९५२ मे राज्यसभा के सदस्य मनोनीत हुए थे। ससद् और ससद् से बाहर उन्हे गुरुकुल की ही चिंता रहती। इस बीच भी उनकी कलम निष्क्रिय नही रही। हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति,



'पण्डित इन्द्र जन्मशती' पर आयोजित समारोह मे हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डा० विजयेन्द्र स्नातक का सम्मान।

चित्र मे, बाएँ मे—डा० रामनाथ वेदालंकार, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, डा० विजयेन्द्र स्नातक, प्रो० रामप्रसाद वेदालकार, आचार्य एव कुलपति, डा० धर्मपाल आर्य (प्रधान, दिल्ली प्रतिनिधि सभा)

स्वराज्य और चरित्रनिर्माण, रघुवंश, किरातार्जुनीय, ईशोपनिषद्भाष्य, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त, मेरे पिता, तथा भारत के स्वाधीनता सग्राम का इतिहास १६५२ से ६० तक के ८ वर्षों के अन्तराल मे लिखी गई रचनाएँ हैं। उन पर गाँधी जी का गहरा प्रभाव था। आर्यसमाज और गाँधीयुग की मशाल उनके हाथो मे अन्त तक रही। खादी जैसे उज्ज्वल विचारो के धनी उस महापुरुष का निधन २३ अगस्त १६६० को हुआ।

गुरुकुलीय परम्परा और आदर्शों से निर्मित पण्डित इन्द्र जी को स्वामी श्रद्धानन्दजी अपना ज्येष्ठ शिष्य मानते थे, इसलिए नही कि उन्होने अपने पिता के असिद्ध और भावी सपनो को पूरा करने का व्रत लिया था, अपितु इसलिए भी कि उनके जीवन का प्रत्येक तन्तु उनके आचार्यपिता की दिव्यप्रेरणा से निर्मित था। १६१६ मे इन्द्र जी को स्वामी जी ने जो पत्र लिखा था, उससे इस कथन की पुष्टि हो जाती है—

मेरे प्यारे पुत्र,

तुम मेरे ज्येष्ठ शिष्य हो क्योकि सब से ज्येष्ठ शिष्य इस समय प्रवासी है। वह जब आएगा तो कुल के लिए यश दिलाता हुआ ही आएगा। परन्तु इस समय मेरे शिष्यो के ज्येष्ठ भ्राता तुम ही हो। उन सबको बल देने का भार तुम पर ही है। परमात्मा तुमको इस बोझ के उठाने के लिए बल देवे।

तुम्हारा मगलाभिलाषी
मुंशीराम

गुरुकुल को इन्द्रजी ने मात्र शिक्षणसस्था या भूमिखण्ड नही समझा। उनके मन मे गुरुकुल के लिए वही भाव था जो एक पुत्र मे अपनी माता के लिए होता है। वह इस पुण्यभूमि जननी के ममतामय आँचल मे लिपट रहने के लिए प्रतिबद्ध थे। प्रवास में रहकर भी उनका मन-विहग उड़ता हुआ इसी नीड की ओर लौट आता था। अपने एक श्लोक मे उन्होने लिखा है— शीत बीत चला है, पलाश फूलने लगे हैं। भ्रमरो की गूँज से दिशाएँ अनुगुंजित हो चली हैं। मलयानिल पाँखुरी के प्यालो से गध–मकरद उडाकर बहने लगी है। इस मौसम मे कुलभूमि और कुलबन्धुओ को देखने के लिए मेरा मन अधीर हो उठा है।

अपगतवतिशीते पीतपीते वनान्ते,
मधुकर कुलगीतैः पूर्यमाणेदिगन्ते।
बहुल सुरभिसान्द्रे गन्धवाह प्रवाहे,
कुलभुवि कुलबन्धून् द्रष्टुकामोऽस्मि बन्धु।

हिन्दू संस्कृति और चिन्तन मे रचे-पगे होकर भी वह कभी अनुदार नहीं हुए। स्वाधीनता आन्दोलन में गंगा-यमुनी संस्कृति का जो प्रवाह उमड़ा, उसमे स्वामीजी की ही तरह इन्द्रजी भी एकजुट होकर खड़े रहे। खिलाफत आन्दोलन मे स्वामीजी के नेतृत्व में हिन्दू-मुसलमान एक होकर लड़े। आर्यसमाज के लिए यह प्रगतिशील दिशा थी। महात्मा गाँधी स्वामीजी के इसीलिए प्रशंसक थे। स्वामीजी के बलिदान पर गाँधी जी ने जो पत्र इन्द्रजी को लिखा, उसमें इसी भावना को बनाए रखने की प्रेरणा थी। गाँधीजी के इस मत्र को पण्डित इन्द्र ने कभी विस्मृत न होने दिया। गाँधीजी ने लिखा था—

'मैं यह भी चाहता हूँ कि जिस वीरता से पिताजी ने अपना कार्य किया, उसी वीरता के साथ तुम भी करते रहो और उनकी पवित्र स्मृति को सुशोभित रखो।'

इन्द्रजी ने अपने पिता की इस उज्ज्वल परम्परा को कभी विस्मृत नहीं होने दिया। सचमुच वह उत्तमर्ण पुत्र ही नहीं, योग्यतम शिष्य भी सिद्ध हुए। उनके जीवन का एक-एक क्षण देश, जाति और लोक के उद्धार मे लगा। वह कहा करते थे—

यावन्मे जीवितं लोके परमार्थाय भवेत्प्रभो,<br>
तावज्जीवितुमिच्छामि यावच्छक्नोमि सेवितुम्।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ जुड़कर उन्होंने निःस्पृह भाव से हिन्दी प्रचार का कार्य किया। श्री गोस्वामी गणेशदत्त जी को एक बार सम्मान दिलाने के लिए वह चुनाव मे जीतकर भी पीछे हट गए। श्री माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारी सिंह दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा नवीन, मुंशी प्रेमचन्द तथा राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन से उनका घनिष्ट परिचय था। हिन्दी के योग्य लेखक होकर भी वह हिन्दी आन्दोलनो की राजनीति से सदैव दूर रहे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिकारियो ने उनकी अनन्य हिन्दीनिष्ठा के कारण उन्हें डा० भगवानदास, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, सेठ गोविन्ददास, श्रीमती महादेवी वर्मा तथा महापण्डित राहुल के साथ 'साहित्यवाचस्पति' की सर्वोच्च उपाधि से अलंकृत किया। उन्होंने पराधीन भारत की बेड़ियाँ काटने के लिए तत्पर बलिदानियों को प्रेरणा देने वाले गीत लिखे। राष्ट्रीय काव्यधारा के इन गीतो की गूंज 'शीशबलि' देने वालो की रक्त-चेतना मे झंकृत होती रही—

हे मातृभूमि तेरे चरणो मे सिर नवाऊँ।<br>
मैं भक्ति भेंट अपनी, सेवा मे तेरी लाऊँ॥<br>
माथे पै तू हो चंदन, छाती पै तू हो माला।<br>
जिह्वा पै गीत हो तू, मैं तेरा नाम गाऊँ॥<br>
वह पुण्य नाम तेरा प्रतिदिन सुनूँ सुनाऊँ।<br>
तेरे ही काम आऊँ, तेरा ही गीत गाऊँ॥<br>
मन और देह तुझ पर बलिदान मैं चढ़ाऊँ।

## स्मरण की इस बेला में

इक्कीसवीं सदी की ओर जाने वाली नयी राहो के नये कदमो की जानकारी के लिए यह बताना क्या जरूरी नही है कि आजादी के दीवाने इस पंछी का जन्म महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के चहकते हुए आँगन मे ६ नवम्बर १८८६ को हुआ था। पछी इसलिए कि अंग्रेजी जेल के सीखचो के भीतर १६२७, १६३० तथा १६३२ मे कैद रहकर भी उसके उत्साह और विश्वास के पख नही टूटे। दमनचक्र मे उसकी लेखनी को प्रतिबन्धित किया गया पर उससे दया की स्याही नही, अधिकार की आग निकली। जब वह सीखचों से बाहर निकला तो आजादी के क्षितिज खोजता रहा। रूढियों और संकीर्णताओं मे जकड़े समाज की आज़ादी का क्षितिज, राजनीतिक पराभव से मुक्ति का क्षितिज, सास्कृतिक ह्रास की आत्महीनता से मोक्ष का क्षितिज तथा मानवधर्म की सम्प्रदायमुक्त धारणा का क्षितिज। उसने आजादी का स्वर्णविहान देखा और उसके ठीक तेरह वर्ष बाद रुग्ण जर्जर देह किन्तु स्वस्थ-निर्द्वन्द्व मन लेकर प्रभुतासम्पन्न, अखण्ड, समृद्ध और उन्नत देश तथा समाज के कल्याण का चिन्तन करता हुआ अनन्त नील निलय मे विलीन हो गया।

यह कहना अत्युक्ति न होगी कि गुरुकुल-स्थापना के लगभग सौ वर्षों के प्रयोगों और परम्पराओ के पण्डित इन्द्र आदर्श प्रतिमान थे और रहेगे। यह अंक उनकी सारस्वत स्मृति को सादर समर्पित है। दुःख है कि पण्डित जी का हिन्दी जगत् मे सही मूल्याकन नहीं हुआ। हिन्दी जगत् उनकी साहित्य, भाषा और पत्रकारिता की सेवाओ से प्रायः अपरिचित ही है। यह अंक यदि हिन्दीसेवियो का ध्यान आकृष्ट कर सका तो स्वय को धन्य मानूंगा। छायावादोत्तर हिन्दी कवि मोहनलाल महतो वियोगी की 'काव्य मजरी' की चार पंक्तियाँ इस अवसर पर मुझे रह-रह कर याद आ रही हैं—

भस्म रूप मे परिणत होकर–भी यदि तुझको पाऊं मैं।
तो इस तुच्छ देह यौवन को पैरो से ठुकराऊं मैं ॥

—विष्णुदत्त राकेश

जन्मशती के अवसर पर

# पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति–शील और प्रज्ञा के धनी

—प्रो० शेरसिंह
कुलाधिपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति का जीवन और कार्य राष्ट्र की उदीयमान प्रजा के लिए सदैव एक दीप-स्तम्भ का कार्य करेगा। वे एक आदर्श पत्रकार, तपस्वी देश-सेवक, निःस्वार्थ समाजसुधारक, तेजस्वी साहित्यकार और समर्पित एवं निष्ठावान शिक्षाविद् थे। उन्होने अपने छात्रकाल मे 'सादा जीवन और उच्च विचार' के उच्चादर्श की शिक्षा प्राप्त की थी। गुरुकुल कांगडी के वे प्रथम स्नातक थे और वे आजीवन सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श को चरितार्थ करने मे जागरूक एव सन्नद्ध रहे।

पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति का जन्म ९ नवम्बर १८८९ को जालंधर मे हुआ था। देशभक्ति एवं समाजकल्याण के प्रति समर्पण की भावना उन्हे अपने पिता स्वामी श्रद्धानन्द से विरासत में मिली थी। स्वामी जी में भावुकता और निर्णय-बुद्धि का सुभग समन्वय विद्यमान था। उनकी भावुकता उनके बड़े पुत्र हरिश्चन्द्र के हिस्से में अवतीर्ण हुई तथा उनकी निर्णय बुद्धि प० इन्द्र जी को मिली।

उपनिषद्–कालीन ब्राह्मण की तरह प० जी सदैव ब्राह्म मुहूर्त मे उठ जाया करते थे। नित्यकर्म से निवृत्त होकर प्राय. प्रातःकाल की शान्त, पावन अमृतवेला मे ही वे अपने सम्पादकीय, लेख, सार्वजनिक भाषण, विचारपूर्ण निबन्ध और अध्ययन–अध्यापन सम्बन्धी टिप्पणियाँ तैयार किया करते थे। प्राची मे प्रकाश की किरणें फूटने पर प्रकृति की गोद मे विचरण उन्हे प्रिय था।

बचपन मे एक सांघातिक रोग के कारण उनका एक फेफडा बेकार हो गया था। नियमित खानपान और औषध–सेवन आदि के विषय मे वे कठोररूप से नियमित और संयत थे। इस पथ्य सेवन और नियमित दिनचर्या के कारण ही वे अन्त तक कार्य–क्षम बने रहे।

उनके इतिहासग्रन्थो, निबन्धो, सम्पादकीय लेखों, महापुरुषो के जीवनचरित्रो और रेखाचित्रो मे उनकी प्रतिभा एव विवेचन शैली का चारुरूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वे भाषणकला मे भी निपुण थे, परन्तु उनके मितभाषी स्वभाव के कारण उनके भाषण शब्दाडम्बर शून्य होते थे। उनकी संक्षिप्तता की यह कला सुसाध्य थी

और हृदय तथा मस्तिष्क पर अपना सीधा प्रभाव डालती थी।

इतिहास के ग्रन्थो और महापुरुषो की जीवनकथाओ को पढने का उन्हे बडा शौक था। उन्होने 'मुगल साम्राज्य का क्षय और कारण", "स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा", "भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त" 'भारत के स्वाधीनता सग्राम का इतिहास", आदि कई इतिहास एवं राजनीति पर आधारित ग्रन्थ लिखे। उन्होने कई महापुरुषों की जीवनियाँ भी लिखी। "नेपोलियन बोनापार्ट की जीवनी", 'प्रिंस बिस्मार्क-जीवनचरित्र", "गैरीबाल्डी-जीवनचरित्र", महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र", "प० जवाहरलाल नेहरू-जीवनचरित्र", "सम्राट रघुवश-जीवनचरित्र", "हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति-सस्मरण", "मेरे पिता-सस्मरण", "लोकमान्य तिलक" आदि उनकी रचनाएँ पाठक के मन-मस्तिष्क पर अमिट प्रभाव छोडती हैं। उनकी एक रचना "मैं उनका ऋणी हूँ" वास्तव मे उस युग के महापुरुषों के व्यक्तित्व एव कर्तृत्व का अनूठा आकलन है। उन्होने भारतीय सस्कृति पर आधारित अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया।

अपनी तरुणाई के दिनो मे उन्होने काव्यरचना भी की थी। "भारत वन्दना" पर लिखे उनके श्लोको को प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सराहा था। अपने जीवन के अन्तिम दिनो म महाभारत की शैली मे उन्होने "भारत इतिहास" पर सस्कृत भाषा मे एक मनोहर काव्य लिखा। उनका 'भारत वन्दना' गीत महात्मा गाधी जी को बहुत प्रिय था और अनेक सभाओ मे गाधी जी उनसे यह गीत गाने के लिए कहा करते थे।

हम सभी इस बात मे परिचित हैं कि उनकी शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल के स्वाधीनता और स्वदेश व स्वसस्कृति के प्रेम से भरे हुए वातावरण में सम्पन्न हुई थी, अत उनके रक्त मे स्वदेश, स्वभाषा व स्वसस्कृति की भावनाएँ सदैव स्पन्दित होती रहती थी। दिल्ली मे हिन्दी का वातावरण बनाने वालो मे उनका नाम पहली पक्ति मे है।

उन्होने अपने जीवनकाल मे कई मासिक, साप्ताहिक एव दैनिक पत्र-पत्रिकाओ का सम्पादन एवं सचालन किया था। उस युग मे यह कार्य इतना आसान न था। अग्रेजी सरकार की दोष-अन्वेषिणी कठोर दृष्टि सदैव इन पत्रो पर रहती थी, परन्तु प० जी का आदर्श था—"न दैन्यम् न पलायनम्"। इसी आदर्शवाक्य को लेकर उन्होने निर्भीक पत्र-कारिता को आगे बढाया। उन्होने अपने अन्तिम क्षणो तक राष्ट्र और समाज की चिन्ता की। एक बार उन्होंने कहा था—"मेरे गिरने का तो समय आ गया है, पर मैं चाहता हूँ कि मेरा देश न गिरे, मेरी सन्तति न गिरे और इस दिशा मे आगे बढने वाले आप लोग न गिरे।" ऐसे बलिपथियो का उत्सर्ग कभी व्यर्थ नही जाएगा। जब तक हम इन्द्र जी जैसे सशक्त पत्रकारो की लेखनी की निर्भीकता और सच्चाई अपनाते रहेगे,

जब तक हम उन उदात्त आदर्शों और लक्ष्यों को स्मरण करके उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त रहेंगे, तब तक ऐसी विभूतियो का उत्सर्ग व्यर्थ न जाएगा। राष्ट्र, समाज एवं दूसरो के लिए उत्सर्ग कर देने वाले उस दिवगत महामानव को आज हम उनके सौवें जन्मदिन पर स्मरण कर रहे हैं।

अपने दैनिकपत्र "अर्जुन" की दश-वार्षिकी के अवसर पर उन्होने विश्वकवि रविन्द्रनाथ टैगोर को आमन्त्रित किया। वार्तालाप मे उन्होंने कहा – भारत ने मुझे तब पहचाना, जब यूरोप ने मेरा जय-जयकार किया।" प० जी ने तुरन्त "सद्धर्म प्रचारक" साप्ताहिक पत्र की फाइल निकालकर कवीन्द्र को दिखलाई और कहा—"आपको नोबुल पुरस्कार मिलने से पहले ही हमने आपकी प्रतिभा और योग्यता का सम्मान किया था।" पडित जी की ऐसी थी तत्त्वदर्शिनी प्रज्ञा।

सन् १९१२ मे गुरुकुल का स्नातक बनने पर उन्होंने व्रत लिया था—"मैं शक्तिभर स्वधर्म और स्वदेश की सेवा मे अपना जीवन लगाऊँगा।" परमात्मा ने उन्हें उज्ज्वल प्रज्ञा और साहस प्रदान किया। वे प्राध्यापक, पत्रकार, साहित्यकार, समाजसुधारक, स्वाधीनता सेनानी और बाद मे सासद के रूप मे आजीवन लोकशिक्षक और लोकसेवक बनकर स्वदेश, स्वधर्म और स्वभाषा की सेवा करते रहे।

पडित जी का पारिवारिक जीवन बडा सुखी था। उनके गृहजीवन की सफलता और चारुता का श्रेय उनकी गृहलक्ष्मी चन्द्रवती जी की योजनाशक्ति, व्यवस्था शक्ति और कार्यक्षमता तथा सेवापरायणता को जाता है।

प० जी ने आजीवन गुरुकुल कागडी की सेवा की। वे वहाँ पर प्राध्यापक रहे, मुख्याधिष्ठाता रहे और आगे चलकर कुलपति भी। वे गुरुकुल की प्रगति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। उनके नेतृत्व मे गुरुकुल ने बहुमुखी उन्नति की। गुरुकुल मे अनेक नए विभाग खुले। पडित जी ने शिक्षा की दृष्टि से गुरुकुल की अपनी विशेषताओं को अक्षुण्ण रखते हुए, उसे बदलते हुए समय के अनुकूल ढालने का प्रयास किया। गुरुकुल की उपाधियो को सरकारी सेवाओ के लिए सरकार से स्वीकृत कराया। उसमे विज्ञान, कृषि तथा अभियान्त्रिकी जैसे आधुनिक विषयो के पाठ्यक्रम भी प्रारम्भ कराए। प० जवाहरलाल नेहरू ने १ अगस्त १९५८ को गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय मे विज्ञान भवन का उद्घाटन करते हुए कहा था—"मुझे अपनी प्राचीन सभ्यता पर गर्व है। यह अच्छी और महान दोनों है। यह प्रेरणादायक है। आर्थिक और राजनैतिक तरक्की के लिए जरूरी है कि हम वैज्ञानिक तरीके अपनाएँ और अपने काम मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखे। आज की वैज्ञानिक सस्कृति और पुरानी सस्कृति दोनों में मेल होना आवश्यक है।" यही विचार प० इन्द्र जी के भी थे। प० नेहरू के अतिरिक्त गुरुकुल में

डा० सम्पूर्णानन्द, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, डा० चिन्तामणि देशमुख, लौहपुरुष सरदार पटेल भी गए।

"विजय", "वीरअर्जुन", "अर्जुन", और "नवराष्ट्र" आदि पत्रों का सम्पादक, दिल्ली कांग्रेस का प्रधान, गुरुकुल कांगड़ी का कुलपति और सार्वदेशिक सभा का समय-समय पर मन्त्री और प्रधान, वह समाजसुधारक महामानव, जीवन का वह ज्योतिस्तम्भ २३ अगस्त १६६० को हमें छोड़ गया। वह दीप जो जीवन भर दूसरों को प्रकाश देता रहा, मृत्यु के बाद हमारे पथ को आलोकित कर रहा है, हमारे मनोबल को दृढ़ आधार प्रदान कर रहा है। आओ, आज हम प्रण करें कि अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक राष्ट्र, देश और धर्म के लिए कार्यरत रहेंगे। हम उसके आदर्शवाक्य को सदैव स्मरण रखेंगे—अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे, न दैन्यं न पलायनम्। उस महामानव के प्रति हमारी श्रद्धावनत श्रद्धांजलि।

—

# विद्यावाचस्पति पण्डित इन्द्र जी

—वेदरत्न आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार

पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के पुत्र-शिष्य थे। उन्होने गुरुकुल मे रहकर वेदालंकार एवं विद्यावाचस्पति की परीक्षायें ससम्मान उत्तीर्ण की। उनके साहित्यिक जीवन का सूत्रपात लगभग १९१० ई० से हुआ। स्वामी जी द्वारा सम्पादित 'सद्धर्म प्रचारक' पत्र के सम्पादन का भार स्वामी जी की व्यस्तता के कारण पण्डित इन्द्र जी ही उठाया करते थे। अपनी छात्रावस्था मे भी उन्होने "सत्य-प्रकाश" नामक पत्र निकाला था। पत्रकारिता यही से उनके जीवन का अंग बन गई। श्री अरविन्द घोष, महामान्य तिलक और लाला लाजपतराय के तूफानी राष्ट्रीय जीवन ने उनके हृदय मे अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध एक तीव्र क्षोभ और उत्तेजना का ज्वार उठा दिया। उन्होने सद्धर्म प्रचारक मे स्वाधीनता के लिए मर-मिटने वाले राष्ट्रभक्त स्वतन्त्रता सेनानियो पर आग उगलने वाली टिप्पणियाँ लिखी। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी उन टिप्पणियो से इतने प्रभावित हुए कि इन्द्र जी से मिलने कानपुर से हरिद्वार पधारे। नेपोलियन बोनापाट, बिस्मार्क, गैरीबाल्डी, महर्षि दयानन्द, पण्डित जवाहर-लाल नेहरू तथा लोकमान्य तिलक जैसे जीवन-चरित्रो के आकलन मे उनकी क्रान्तिकारी चेतना का विस्फोट उपलब्ध होता है। निष्काम राष्ट्रसेवा, स्वातन्त्र्य की कसक, बलि-दान का सकल्प और नवचेतना का उन्मेष उनके व्यक्तित्व और लेखन मे कूट-कूट कर भरा है। एक उद्बोधन देखिए—

जागो, प्रमाद छोड़ो, कसकर कमर खड़े हो,
देखो तुम्हारी जननी तुमको बुला रही है।
दुनियाँ को फिर जगा दो, सुन ले वह ध्यान धरके,
बलिकुण्ड से उमड़ती जयमाल आ रही है।

इन्द्र जी ने आर्य समाज और वैदिक धर्म की सम्पूर्ण मन से सेवा की। इस क्षेत्र मे वह विचारो के बड़े दृढ थे। किसी लोभ और भय से कभी विचलित न होते थे। हैदराबाद की निजाम सरकार ने जब आर्य समाज पर प्रतिबन्ध लगाया तथा आर्य समाज के कार्यकर्त्ताओ का दमन शुरू किया तब पण्डित इन्द्र जी ने ही ३० अप्रैल, १९३३ ई० की सार्वदेशिक सभा की बैठक मे सरकार की भर्त्सना की तथा सत्याग्रह का बीजारोपण किया। १९४४ मे मुस्लिम लीग द्वारा 'सत्यार्थ प्रकाश" पर पाबन्दी लगाने के दुष्प्रचार



गुरुकुल सग्रहालय के सौजन्य से—
दीक्षान्त के लिए केन्द्रीय शिक्षामन्त्री डा० कालूलाल श्रीमाली गुरुकुल पधारे।

शोभायात्रा का दृश्य—
चित्र मे बाएँ से आचार्य प्रियव्रत जी, शिक्षामन्त्री डा० के०एल० श्रीमाली तथा पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति।

के विरुद्ध भी वह कमर कसकर तैयार हुए। डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, गोस्वामी गणेश-दत्त तथा श्री गगाप्रसाद उनके साथ थे। सार्वदेशिक सभा के मन्त्री के रूप मे उनके किए गए कार्यों को भुलाया नही जा सकता। उनमे अद्भुत संगठनक्षमता थी। मथुरा मे सम्पन्न दयानन्द जन्म शताब्दी समारोह, गुरुकुल कांगडी का संचालन, वीर अर्जुन का सम्पादन, स्वाधीनता आन्दोलन तथा आर्य समाज के प्रचार के कार्यक्रमों में उनकी इस क्षमता का पूर्ण परिचय मिलता है। गुरुकुल मे विज्ञान के विभिन्न विषयों को पाठ्यक्रम समाविष्ट कराने का कार्य उन्होंने ही किया। पण्डित नेहरू ने उनके अनु-रोध पर गुरुकुल पधारकर इस नवीन योजना का स्वागत किया था।

इन्द्र जी ने लगभग ३० वर्षों तक हिन्दी पत्रकारिता को दिशा दी। दिल्ली के राष्ट्रीय हिन्दी पत्रों मे उनकी पत्रकारदृष्टि मील का पत्थर कही जा सकती है। चाहे सद्धर्म प्रचारक हो, चाहे विजय, चाहे अर्जुन हो, चाहे वीर अर्जुन या जनसत्ता, वह समाज, धर्म और राष्ट्रविरोधियों पर गाण्डीव के शर के समान तीक्ष्ण प्रहार करने से कभी नही चूके। धनुष पर चढी प्रत्यचा उन्होंने कभी शिथिल नहीं होने दी। उन्होंने श्री भीमसेन, पण्डित रामगोपाल, शहीद भगतसिंह, श्री लेखराम बी० ए०, कृष्णचन्द्र विद्यालकार, अवनीन्द्र विद्यालकार, दीनदयालु शास्त्री, विद्यानिधि सिद्धान्ता-लकार, गणपतिचन्द्र केला, रामगोविन्द मिश्र, युधिष्ठिर विद्यालकार, श्री सत्यकाम विद्यालकार, श्री सत्यदेव विद्यालकार तथा नरेन्द्र विद्यावाचस्पति जैसे पत्रकारो का निर्माण किया। पत्रकारिता उनके लिए मिशन थी, आन्दोलन थी और थी एक राष्ट्रीय साधना। उनकी इस साधना का मूल्यांकन करते हुए राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने लिखा था—"पिछले २५ वर्षों से दिल्ली के प्रभावशाली क्षेत्र मे उसने, मेरे प्यारे भाई इन्द्र जी की शक्ति पाकर निर्भीकता से देश की उपासना की है और हिन्दी का मान रखा है। वह हिन्दीभाषियो के प्रेम और सम्मान का अधिकारी है। वह चिरजीवी हो और उसके (अर्जुन के) करो मे हिन्दीप्रेम का गाण्डीव सदा दृढ़ता से राष्ट्रीयता की रक्षा करे।"

इन्द्र जी ने लगभग ४१ ग्रन्थो की रचना की। इनमे उपन्यास, जीवनी, इतिहास, दर्शन, सस्मरण, निबन्ध, सस्कृति और साहित्य सभी कुछ है, लेकिन जीवनचरित्र, इतिहास और सस्मरणलेखन मे उनका विशेष योगदान है। शाहआलम की आँखें उनका उपन्यास है, तो "स्वर्णदेश का उद्धार" नाटक। प्रिंस बिस्मार्क जीवनी है तो महर्षि दयानन्द जीवनचरित्र। मुगल साम्राज्य का क्षय और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त इतिहास है तो मेरे पिता और मैं उनका ऋणी हूँ सस्मरण। इन्द्र जी की इन प्रसिद्ध रचनाओ को पढ़कर प्रतीत होता है कि भाषा-शैली पर उनका पूर्ण अधिकार है। वह सफल विचारक और चिन्तक थे। उनका महत्त्व दो दृष्टियो से है। (१) उन्होने हिन्दी साहित्य को ललित और तत्त्वनिष्ठ चिन्तन से पूर्ण किया, तथा (२) आधुनिक ज्ञान विज्ञान और तकनीकी विषयो मे शिक्षण का गुरुकुल में प्रावधान

कर हिन्दी की शक्ति को प्रतिष्ठित किया। इतिहास और कल्पना की उड़ान में वह महर्षि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द को हमेशा सामने रखकर चले।

उन पर लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, मोतीलाल नेहरू, हकीम अजमल खां, मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, सरदार पटेल, सुभाषचन्द्र बोस, प्रेमचन्द, देवदास गांधी तथा बाबू शिवप्रसाद गुप्त के अतिरिक्त स्वामी श्रद्धानन्द जी का गहरा प्रभाव था।

यह उनका जन्मशताब्दी वर्ष है। हम गुरुकुल के निवासी उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करने जा रहे हैं। उन्हें स्मरण कर हमारे ब्रह्मचारी, प्राध्यापक और कर्मचारी नई प्रेरणा और उत्साह प्राप्त करेंगे तथा सत्साहित्य के लेखन, आर्य समाज के प्रचार तथा राष्ट्रनिर्माण के कार्यों मे भाग लेंगे।

अन्त में, हिन्दी पत्रकारिता के पितामह और आर्यसमाज के प्रखर वैतालिक पण्डित इन्द्र जी के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि। गुरुकुल उनका कृतज्ञ है और कृतज्ञ रहेगा।

---

भारतीय मनीषा के प्रतीक

# पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति

—डा० विजयेन्द्र स्नातक
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

स्वर्गीय पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति का स्मरण करते समय बीसवीं शताब्दी के भारत के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और शैक्षिक आन्दोलनों का चित्र हमारे स्मृति-पटल पर अपनी विविध भूमिकाओं के साथ उपस्थित हो जाता है। राजनीतिक क्षेत्र मे लोकमान्य तिलक, गोखले और महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित आन्दोलनों तथा धार्मिक एव सामाजिक क्षेत्र मे स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा प्राचीन सस्कृति तथा शिक्षापद्धति की पुन स्थापना के मौलिक प्रयत्न उभरकर सामने आते हैं। पुनर्जागरण की एक अद्भुत लहर उस युग मे सर्वत्र लक्षित की जा सकती है।

नवजागरण के इस वातावरण मे पडित इन्द्रजी का जन्म जालधर शहर में ९ नवम्बर सन् १८८९ को एक प्रतिष्ठित समृद्ध परिवार मे हुआ। इनके पिता महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) एक सुप्रसिद्ध वकील थे। महात्मा मुंशीराम का परिवार वैभवशाली था। मुंशीराम जी ने अपनी वकालत से यश और धन अर्जित किया था। आर्य समाज की स्थापना हो चुकी थी और आर्य समाज पजाब मे नई शक्ति के रूप मे उदित होकर सामाजिक जागरण का केन्द्र बन रहा था। बालक इन्द्र ने घर और बाहर बदलते हुए समाज को देखा था। अपने पिता और मामाओं के निकट सम्पर्क मे रहते हुए तत्कालीन परिस्थितियो का जीवन्त परिचय प्राप्त किया था। शैशवावस्था से ही उनके मन मे नैतिक चेतना का उदय हो गया था। उनके परिवार मे उनके बड़े भाई हरिश्चन्द्र और दो बहने थी। बड़े भाई हरिश्चन्द्र गुरुकुल से स्नातक होकर विदेश चले गये थे और वहाँ से वापस नही आये।

वैदिक शिक्षा-पद्धति के जो स्वप्न महात्मा मुंशीराम जी अपने मन में सजोए हुए थे उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए उन्होंने पहले गुजरावाला मे दो मंजिली एक कोठी लेकर गुरुकुल की स्थापना की थी। बालक इन्द्र का गुरुकुलीय जीवन इसी कोठी मे ही प्रारम्भ हुआ था। मुंशीराम जी ने गुरुकुल खोल तो दिया किन्तु उनका मन गुजरावाला के शहरी माहौल से सन्तुष्ट न था अतः उन्होने तीस हजार रुपये एकत्र करने का सकल्प किया और सौभाग्य से उन्हें बिजनौर निवासी मुंशी अमनसिह ने गंगा के

किनारे, हरिद्वार के समीप बसा अपनी जिमीदारी का कांगड़ी गाँव भेंट कर दिया। यह कागड़ी गाव आज विश्वविख्यात शिक्षास्थली के रूप मे प्रसिद्ध है। नवीन विश्व-विद्यालय तो अब कांगड़ी मे नहीं है किन्तु उसने अपने जन्मस्थान के नाम को नही छोड़ा। गुरुकुल के पुराने स्थान का वर्णन करते हुए इन्द्र जी ने लिखा है—"हमारे रहने का स्थान खैर और बेरी के घने जंगलों से घिरा था। कहीं-कहीं बिल्व के पेड़ थे, इन पेड़ो की बहुतायत के कारण वह जगंल वस्तुतः 'कटकाकीर्ण' शब्द का अधिकारी था। नीचे काटे, ऊपर काटे और चारों तरफ भी कांटे-ही-कांटे। स्नान के लिए सिर्फ गगा की धारा थी। और क्रीड़ा क्षेत्र का आनन्द गगा तट की बालू से लिया जाता था। ऐसी दुनिया मे हम रहते थे।" शहर में जाना सर्वथा निषिद्ध था। कागड़ी में पहुँचने के पश्चात् पाँच वर्ष तक ब्रह्मचारियों ने गगा का पुल पार करके कनखल मे भी पाँव नहीं रखा था। छात्रावस्था मे ब्रह्मचारी इन्द्र कवि और मत्रकार के रूप मे उभरने लगा था। विचारक और चिन्तक की मनोभूमि मे उतरकर समस्याओं का हल खोजने की प्रवृत्ति उसमें किशोरावस्था में ही लक्षित होने लगी थी। बचपन में बीमार रहने के कारण शारीरिक दुर्बलता और बीमारियों का चक्र उनके साथ निरन्तर लगा रहा। तीन बार निमोनिया के प्रबल हमलें हुए और उसी आयु मे प्लूरिसी का घातक हमला भी उन्हें झेलना पड़ा। इन भयंकर बीमारियो को इन्द्र जी ने जिस साहस और धैर्य के साथ सहन किया वह उनकी तितिक्षा की कठिन परीक्षा थी। इन्द्र जी का एक फेफड़ा इन बीमारियो ने खराब कर दिया था फिर भी एक फेफड़े के साथ इन्द्र जी ने इकहत्तर वर्ष तक सक्रिय और सघर्षमय जीवन व्यतीत कर राष्ट्रसेवा का आदर्श प्रस्तुत किया।

इन्द्र जी के पिता ने अपने पुत्र को बैरिस्टर बनाने का स्वप्न देखा था किन्तु पुत्र के मन मे इसके प्रति कोई उत्साह नहीं था। बैरिस्टर बनकर राष्ट्रसेवा का अवसर हाथ से निकल जायेगा। अपने जीवन को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि मानवसेवा की प्रथम कर्त्तव्य समझा जाय और तदनुसार आचरण किया जाय तथा आर्यों की जन्म भूमि आर्यावर्त्त को उसी ऊँचे स्थान पर पहुँचाना, जिस पर और सभ्य देश पहुंचे हुए हैं। यह सब मानसिक, सामाजिक, नैतिक और राष्ट्रीय स्वाधीनता के बिना असम्भव है। अतः बैरिस्टर बनना राष्ट्रसेवा के पुनीत कर्त्तव्य मे बाधक ही बनना है। छात्रजीवन मे इन्द्र जी का यह विचार हो गया था कि—"दासो का धर्म कभी नही फैलता। अतः आर्य समाज की स्वाधीनताप्राप्ति मे योगदान करना चाहिए।" इन्द्र जी के एक मामा प्रख्यात बैरिस्टर थे किन्तु इन्द्र जी के मन मे कभी मामा के समान बैरिस्टर बनकर धनोपार्जन की इच्छा पैदा नही हुई। वस्तुतः इन्द्र जी का जीवन एक समर्पित जीवन था। छात्रजीवन मे ही उन्होंने राष्ट्रभक्ति का यह गीत लिखा था—

हे मातृभूमि तेरे चरणों मे सिर नवाऊँ
मैं भक्ति भेंट अपनी तेरी शरण मे लाऊँ।
तेरे ही काम आऊँ, तेरा ही मन्त्र गाऊँ,
मन और देह तुझ पर बलिदान मैं चढ़ाऊँ।

छात्रजीवन से ही राष्ट्रगौरव और राष्ट्रभक्ति को अपना लक्ष्य बना लेने पर इन्द्र जी को किसी एक मत या पक्ष मे रहना ठीक नहीं लगता था। उनकी विचार-धारा मे उच्चस्तरीय उदारता और विराटता का समावेश हो गया था। राष्ट्रसेवा के धरातल पर उनका दृष्टिकोण व्यापक होने के साथ सबके सुख की कामना से ओत-प्रोत होकर बुद्धिवादी बन गया था। आर्य समाज और ऋषि दयानन्द के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए भी वे भागवत पुराण जैसे ग्रंथ की प्रशंसा करते थे। राजनीति को वह राष्ट्र के सन्दर्भ मे उपयोगी मानते थे और आर्य समाज जैसी सस्था को भी राजनीति मे भाग लेने की प्रेरणा देते थे। उनके मत मे आर्य समाज ने, जिसे उसके सस्थापक ने सर्वांगपूर्ण बनाया था, राजनीति का बहिष्कार करके अपने आपको समय से पीछे डाल दिया है। आर्य समाज संसार का उपकार करना चाहता है तो उसे राजनीति को स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार के विचार उन्होंने आज से लगभग पचास वर्ष पहले व्यक्त किये थे। 'प्रचारक' नामक पत्र में अपने विचार प्रकट करते हुए इन्द्र जी ने स्पष्ट शब्दों मे कहा है— "राजनीतिक सिद्धान्तो का आर्य समाज प्रचार करे और दलगत राजनीति मे पड़े बगैर राजनीतिक प्रणाली मे सशोधन का कार्य करे।" यह प्रश्न आज भी आर्य समाज के सामने विवादास्पद रूप मे उपस्थित है और उपयुक्त समाधान के अभाव मे दलगत राजनीति मे उलझा पड़ा है।

पंडित इन्द्र जी ने अपने छात्रजीवन मे ही राष्ट्रसेवा को अपना प्रथम कर्त्तव्य मान लिया और राजनैतिक विचारधारा के लिए उन्होंने लोकमान्य तिलक को अपने गुरु रूप मे स्वीकार कर लिया था। उस समय भारत के राजनैतिक क्षितिज पर महात्मा गांधी का उदय नही हुआ था। किन्तु कालान्तर मे जब महात्मा गाधी दक्षिण अफ्रीका मे आन्दोलन की सघर्षमयी भूमिका निभाकर भारत आ गये और उन्होने कांग्रेस मे शामिल होकर असहयोग आन्दोलन का शखनाद किया तब इन्द्र जी पर भी उसका प्रभाव पड़ा और इन्द्र जी कांग्रेस के सक्रिय सदस्य हो गए। कांग्रेस के सदस्य हो जाने पर उन्होने अपने समाचारपत्रो द्वारा ब्रिटिश शासन का विरोध और कांग्रेस का समर्थन प्रारम्भ कर दिया। कांग्रेस मे वैचारिक मतभेद का वातावरण पैदा होने पर स्वराज्य पार्टी मे शामिल होकर पूरे तौर पर कांग्रेस की सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया। कांग्रेस का स्पेशल अधिवेशन दिल्ली मे मौलाना आजाद की अध्यक्षता मे बुलाया गया। पंडित इन्द्र जी उसके मत्री थे। इसके बाद तो आप निरन्तर कांग्रेस मे एक नेता के रूप मे कार्य करते रहे। उनके राजनीतिक जीवन मे कई बार झझावात के प्रसग भी आए किन्तु वे कभी मन्तव्य से डिगे नही, चट्टान की तरह अटल बने रहे और एक बार तो अपने पिता स्वामी श्रद्धानन्द के विरोध मे भी उन्हे कार्य करना पड़ा। यह प्रसंग केन्द्रीय असेम्बली के उम्मीदवारो के समर्थन का था। कांग्रेस पार्टी श्री प्रकाश का और स्वामी श्रद्धानन्द, घनश्याम दास बिड़ला का पक्ष लेकर कार्य कर रहे थे। इन्द्र जी ने इस समय कांग्रेसी सदस्य श्री प्रकाश का साथ दिया। इतना ही नही लाला लाजपतराय और स्वामी जी के अनुरोध को अस्वीकार करते हुए उन्होने लालाजी से

विनम्रतापूर्वक स्पष्ट शब्दों में कहा—"मैं अपनी आत्मा की आवाज के अनुसार काम करता हूँ अतः मैं यही उचित समझता हूँ कि राजनीतिक चुनाव में कांग्रेस का समर्थन करना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है।" इन्द्र जी की चारित्रिक दृढ़ता की यह घटना एक ऐसा प्रखर प्रमाण है जो उनके व्यक्तित्व को विद्या और बुद्धि का धनी होने के साथ साहस, धैर्य, निर्भीकता, स्पष्टवादिता आदि गुणो को उजागर करती है।

सन् 1930 से इन्द्र जी के जीवन मे विराट परिवर्तन आया। इस परिवर्तन को उन्होंने कई बार अपनी डायरी मे भिन्न-भिन्न शब्दो मे व्यक्त किया। शब्दभेद होने पर भी भावभेद नही है। उन्होने लिखा है कि "अब तो दिल से यही आवाज उठती है कि वह समय आ गया है जब सर्वतोभावेन देशसेवा में लग जाऊँ और अपना जीवन सार्वजनिक जीवन को अर्पण कर दूँ। आर्य समाज तथा अन्य उपयोगी कार्यों में योग दूँगा तो वह भी देशसेवा को मानकर ही दूँगा। कभी धनी बनने की कामना नही करूँगा और प्राप्त धन को विलास का साधन न समझूँगा।" सार्वजनिक जीवन मे शिथिलता न आये, यह ध्यान रखूँगा। अपने कर्त्तव्यपथ पर निःशंक भाव से चलते जाना ही धर्म और नीति की दृष्टि से उत्तम समझूँगा।" डायरी के इन वाक्यों से इन्द्र जी की मानसिकता का जो रूप उद्घाटित होता है वह एक शान्त, संयमी, स्थितप्रज्ञ, विवेकी व्यक्ति का अनुकरणीय रूप है। राजनीति के भवरजाल मे डूबते-उतराते हुए भी अपने सिद्धात और मन्तव्य की नौका को अडिग बनाए रखना विमल विवेक, श्रद्धा और आस्था का ही प्रमाण है। इसी सुदृढ सिद्धान्त-भूमि पर इन्द्र जी निष्कम्प दीपशिखा की भांति सदैव प्रकाश फैलाते रहे।

पंडित इन्द्र जी के जीवन मे समाचारपत्र और पत्रकारिता का प्रमुख स्थान रहा है। छात्रावस्था से ही उनका रुझान पत्र सम्पादन की ओर रहा था। 'सत्य प्रकाश' और 'असत्य विचारक' नाम के दो हस्तलिखित पत्र अपने ज्येष्ठ भ्राता हरिश्चन्द्र के सहयोग से निकालते थे। यह पत्रप्रकाशन बचपन का विनोद ही था किन्तु इसकी प्रेरणा पत्रकारिता प्रेम से ही उन्हे मिली थी। गुरुकुल में अध्ययन करते समय 'सद्धर्म प्रचारक' के सम्पादन तथा लेख आदि लिखने का अवसर मिला। स्नातक बनने के बाद गुरुकुल मे अध्यापक के रूप मे कार्य करते हुए भी उन्होने कुछ समय तक स्वतन्त्र रूप से इस पत्र का सम्पादन किया। उसके बाद दिल्ली आने पर 'सत्यवादी' शीर्षक से एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया, यह सन् 1923 की बात है। उन दिनों हिन्दी साप्ताहिक या दैनिक पत्र के लिए दिल्ली मे अनुकूल वातावरण नही था। एक हिन्दी दैनिक '**वैभव**' नाम से रुक-रुककर प्रकाशित होता था। कुछ मित्रों के आग्रह पर उन्होंने '**दैनिक वैभव**' का सम्पादक बनना स्वीकार कर लिया। यह दैनिक पत्र हैंड प्रैस मे छपता था और आकार-प्रकार तथा मुद्रण की दृष्टि से पंडित इन्द्र जी की प्रतिष्ठा के अनुकूल नही था। अतः **विजय** नामक पत्र का प्रकाशन दिल्ली से प्रारम्भ किया।

यह दिल्ली और पंजाब का सर्वप्रथम दैनिक पत्र था। इसी का नाम बदलकर दो साल बाद 'अर्जुन' नामक दैनिक पत्र का प्रारम्भ सन् 1923 मे हुआ। यह दिल्ली का लोकप्रिय दैनिक था। पहले सायंकालीन था किन्तु बाद मे यह प्रातःकालीन हो गया था। पंडित इन्द्र जी बम्बई से भी हिन्दी नवराष्ट्र का सम्पादन कर चुके थे। इसके बाद वीर अर्जुन और जनसत्ता का भी सम्पादन किया। इतने अधिक पत्रो के सम्पादन से जुड़े रहने पर भी पडित इन्द्र ने अपने स्वाभिमान पर कभी आंच नहीं आने दी। पत्रकारिता के सम्बन्ध में उनके नैतिक मापदड थे जिनका वे दृढ़तापूर्वक निर्वाह करते थे। उनके मतानुसार स्वतन्त्रतापूर्व पत्रकारिता एक मिशन थी। प्रत्येक पत्रकार अपने आपको देश का सिपाही समझता था। परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् जिस प्रकार राजनीति एक पेशा बन गई, उसी प्रकार पत्रकारिता भी। इन्द्र जी ने हिन्दी पत्रकारिता को जो मान-मर्यादा प्रदान की वह पहले कोई सम्पादक नही दे सका था। उन्होंने पत्रों के पूंजीपति मालिको के आदेश कभी नही माने और अपनी मर्यादा में रहकर सम्पादन करते रहे। आधा दर्जन पत्रो का प्रकाशन-सम्पादन करने पर भी तीस साल की पत्रकारिता में एक पैसा भी नही बचाया। सब सरकार ले गयी। उनकी दृष्टि मे पत्र सार्वजनिकजीवन के माध्यममात्र हैं, कमाने की चीज नही। उन्होंने जीवन के उत्तरार्द्ध मे 'वीर अर्जुन' से जब त्यागपत्र दिया तो उनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी किन्तु अपने आदर्श और सिद्धात की रक्षा के लिए अपनी लेखनी को पूंजी के आगे झुकाने से इन्कार कर दिया और लेखनी को वन्दनीय बनाये रखा। पडित जी ने दिल्ली नगर मे हिन्दी को स्थापित करने मे अपनी पत्रकारिता द्वारा जो योगदान किया वह अप्रतिम है। आज दिल्ली मे हिन्दी के छोटे-बड़े दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओ की सख्या लगभग चार दर्जन है। पडित जी की प्रतिभा और परिश्रम की ही यह देन है।

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति का एक प्रमुख कार्यक्षेत्र आर्यसमाज भी था। आर्यसमाज और गुरुकुल दोनों मे विविध रूपो मे कार्य करते हुए पडितजी ने अपनी योग्यता, प्रतिभा और कार्यकुशलता का जो परिचय दिया वह अविस्मरणीय है। आर्य प्रतिनिधि सभा, सार्वदेशिक सभा, हिन्दी आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री, प्रधान, उपप्रधान आदि पदों पर पंडितजी ने सन् 1921 से सन् 1950 तक जिस निष्ठा, त्याग, तपस्या तथा कर्मठता के साथ कार्य किया वह आर्यसमाज के इतिहास मे अमिट अक्षरों में अंकित रहेगा। आर्यसमाज के प्रचारोद्दिष्ट कार्यों से भी पडित जी का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। सन् 1925 मे मथुरा मे दयानन्द जन्मशती महोत्सव, हैदराबाद आर्य सत्याग्रह, गुरुकुल का स्वर्ण जयन्ती उत्सव, सार्वदेशिक सभा का जयन्ती उत्सव पंडितजी के महत्वपूर्ण निर्देशन और सहयोग से सम्पन्न हुए। गुरुकुल कागड़ी के निर्माण मे पडितजी के योगदान से साधारणजन भी भली-भाँति परिचित है। गुरुकुल मे आयुर्वेद तथा नवीन चिकित्सापद्धति का प्रशिक्षण, विज्ञान का उच्चस्तरीय अध्यापन,

गुरुकुल को विश्वविद्यालय का समकक्ष स्तर दिलाना आदि कार्यों का श्रेय आपको ही है। आर्यों के संगठन के लिए सार्वदेशिक सभा के अन्तर्गत आर्यवीर दल का गठन भी आपके मंत्रित्व काल में हुआ। सत्यार्थ प्रकाश के विरोध में सिन्ध प्रान्त में मुस्लिम लीग ने जो प्रचण्ड आन्दोलन चलाया था उसका मुँहतोड़ जवाब आपके द्वारा ही दिया गया था। इस कार्य के समय इन्द्र जी ही सार्वदेशिक सभा के मंत्री थे। इस संघर्ष में विजय का श्रेय आपको ही है।

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति को आजीवन गुरुकुल कांगड़ी के उन्नयन, उत्कर्ष और अभ्युदय की चिन्ता बनी रही। उनके जीवन का अधिकांश श्रेष्ठकाल गुरुकुल में रहकर तथा गुरुकुल की समस्याओं से जूझने में व्यतीत हुआ। उन्होंने अपनी डायरी में अनेकों स्थलों पर गुरुकुल के विषय में अपने उद्‌गार प्रकट किये हैं। गुरुकुल के विकास की योजनाओं पर उनका सतत ध्यान बना रहा। अपने कार्यकाल में वे भारत के प्रधान-मन्त्री, उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री, भारत के प्रमुख वैज्ञानिक डॉ० भटनागर तथा अनेक राजनीतिक क्षेत्र के जाने-माने व्यक्तियों को गुरुकुल में आमंत्रित करते रहे। गुरुकुल और आर्यसमाज के स्वरूपविकास की उन्हें सदा चिन्ता बनी रहती थी। गुरुकुल को उन्होंने तीन छात्रों से प्रारम्भ होते देखा था और भारत के सुप्रसिद्ध शिक्षा-मन्दिर के रूप में विश्वविद्यालय को नवीन आकार ग्रहण करते भी देखा। वे स्वयं सभी परिवर्तनों के द्रष्टा रहे। उन्होंने छात्रों को सरसों के तेल के दीपक के प्रकाश में पढ़ते देखा और मिट्टी तेल (कैरोसिन आयल) के लैम्प के प्रकाश में चमकती आश्रम की दीवारों को देखा। इस परिवर्तन को पिच्चासी वर्ष पूर्व गुरुकुल में महान् क्रांतिकारी परिवर्तन समझा गया था। आज तो उसी गुरुकुल में न सरसों के तेल के दिये हैं और न मिट्टी के तेल के लैम्प। पण्डितजी स्वयं बिजली के मरकरी बल्ब और ट्यूबलाइट के प्रकाश में पढ़ते रहे। भौतिक परिवर्तनों के साथ गुरुकुल के समस्त परिदृश्य में जो आमूल परिवर्तन हुआ, इन्द्रजी का उसमें बड़ा हाथ है। पाठविधि और आश्रम के अनुशासन में भी परिवर्तन आ गया है। मैं उसकी चर्चा इस समय नहीं करना चाहता।

पंडित इन्द्र जी गुरुकुल के विद्यालङ्कार उपाधिधारी स्नातक थे। इस परीक्षा के बाद शोध-उपाधि के रूप में विद्यावाचस्पति की उपाधि प्रदान की जाती थी। पंडित इन्द्रजी ने गुरुकुल के महाविद्यालय विभाग में सात वर्ष वैदिक साहित्य और इतिहास का अध्यापन किया था। उपाध्याय के रूप में कार्य करने पर इन्हें अनुसंधान की विद्यावाचस्पति की उपाधि प्रदान की गई। गुरुकुल में अध्यापन करते समय इन्होंने ब्रह्मचारियों को भारत दुर्दशा नाटक के अभिनय की शिक्षा दी और गुरुकुल में रंगमंच का प्रवेश कराया। पंडित जी की व्यापक दृष्टि का यह भी एक निदर्शन है।

पंडित इन्द्र जी का व्यक्तित्व उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण बहुआयामी था। राजनीति, समाज, धर्म, संस्कृति, पत्रकारिता आदि के साथ भारतीय साहित्य और इतिहास में उनकी गहरी पैठ थी। उन्होंने अपने जीवन में लगभग चार दर्जन छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखी। उनका लेखनकर्म उपन्यास, कविता, जीवनी, संस्मरण, निबन्ध, इतिहास आदि विधाओं में फैला हुआ है। संस्कृत भाषा में भी इन्होंने छन्दोबद्ध रचना की है। भारत का इतिहास और वैदिक वाङ्मय का इतिहास संस्कृत भाषा में ही लिखने की योजना बनाई थी। 'भारतेतिहासम्' उनकी संस्कृत भाषा की श्लोकबद्ध अधूरी कृति है। मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण, जर्मन साम्राज्य का उत्थान और पतन, क्रान्तिमार्ग के पथिक, जवाहरलाल नेहरू, महर्षि दयानन्द, मेरे पिता, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त, आर्यसमाज का इतिहास, हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति, सम्राट रघु, स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा, जीवन संग्राम, स्वराज्य और चरित्र निर्माण, शाहआलम की आँखें, जीवन की झाँकिया, सरला की भाभी, आत्मबलिदान, अपराधी कौन, जमींदार, स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा, आदि प्रसिद्ध पुस्तकें उनकी कारयित्री प्रतिभा का परिचय देती हैं। इन पुस्तकों में उनका रचना-वैविध्य तो स्पष्ट झलकता ही है साथ ही शैली एवं अभिव्यंजना के सौष्ठव की दृष्टि से भी इनका महत्त्व है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पंडितजी का साहित्यिक रचनासंसार जितना व्यापक था, उनकी रचनाधर्मिता भी इतनी ही विराट फलक पर फैली हुई थी। जब लेखक की दृष्टि पाठक के ज्ञानवर्धन और मनोरंजन से जुड़कर प्रतिभा का उपयोग करती है तब उसकी कृतियों का लक्ष्य पाठक की चित्तवृत्ति का परिष्कार करना भी होता है। पंडितजी के लेखन में इस अन्तर्दृष्टि का संधान कठिन नहीं है। पंडितजी की शैली में ऋजुता, मार्दव, प्रांजलता और सौष्ठव के साथ पाठक को आकर्षण के सूत्र में बाँधने की अद्भुत कला लक्षित होती है। पंडितजी ने अपनी जेल यात्रा को इसलिए वरदान माना है कि उन्हें लिखने का पर्याप्त समय जेल के एकान्तवास में सुलभ हो सका। पंडितजी काव्यमर्मज्ञ, सहृदय कवि थे। संस्कृत में काव्यरचना का क्रम तो उन्होंने शरीरत्याग से चार-पाँच दिन पहले तक जारी रखा था। यदि पंडितजी कुछ समय और जीवित रहते तो संस्कृत साहित्य का तथा भारत का इतिहास संस्कृत भाषा में श्लोकबद्ध रूप में छोड़ जाते।

भारतीय मनीषा के प्रतीक पंडित इन्द्रजी आदर्शवादी, संस्कारी, बुद्धिवादी, विचारक और चिन्तक राष्ट्रपुरुष थे। जब मैं उन्हें राष्ट्रपुरुष शब्द से व्यवहृत करता हूँ तब उनकी जो प्रतिभा मेरे अन्तर्नेत्रों के सामने उभरती है वह राष्ट्र के लिए उत्सर्गमयी भावनाओं से ओत-प्रोत, दिव्याकार की ओजस्वी प्रतिभा होती है। उन्होंने राष्ट्रसेवा के लिए जिन क्षेत्रों में कार्य किया उनमें निर्लिप्त भाव से,

निस्वार्थ भाव से अपने वर्चस्व को सुरक्षित रखकर ही किया था। महात्मा गांधी और कांग्रेस में आस्था रखते हुए भी जब उन्हे अपने सिद्धान्त पर आघात प्रतीत हुआ तो उन्होने महात्मा गांधी की अहिंसा की परिभाषा को अस्वीकार करते हुए सन् 1941 मे कांग्रेस से त्याग-पत्र दे दिया। उनकी मान्यता थी कि गांधी जी की अहिंसा की परिभाषा एक अस्वाभाविक परिभाषा है जिसे वास्तव में कांग्रेसजन भी मन से स्वीकार नही करते किन्तु गाधी जी को नाराज नही करना चाहते। पडितजी ने कांग्रेस के ध्येय में आये हुए 'शान्तिमय उपाय' शब्द का यह अभिप्राय स्वीकार नही किया कि आत्मरक्षा में भी हिंसात्मक उपाय का प्रयोग नही करना चाहिए। महात्मा गाधी के प्रभावशाली व्यक्तित्व और नेतृत्व को चुनौती देकर कांग्रेस से त्यागपत्र देने का साहस और कोई व्यक्ति नही कर सका। पडितजी की सिद्धान्तप्रियता और निर्भीकता का यह अप्रतिम निदर्शन है।

समाचारपत्रो के सन्दर्भ मे पडितजी की दृढता और निडरता के अनेक अवसर आये। पचास हजार रुपये के दावे की धमकी, समाचार-पत्र मे हड़ताल कराने की धमकी, विज्ञापन न देने की धमकी, हत्या करने की धमकी आदि अनेक ऐसे प्रसग हैं जब पडितजी अपने आदर्श और मन्तव्य की रक्षा के लिए चट्टान की तरह दृढ बने रहे, न तो किसी धमकी से झुके और न धमकी से भयभीत हुए। इस दृढता के पीछे उनका अविचल ईश्वरविश्वास ही कारण था। ब्रिटिश सरकार से जूझना तो उनके स्वभाव का अंग हो गया था। समाचार-पत्रो के सम्पादक और प्रकाशक के नाते उनसे अनेक बार जमानत मांगी गयी। जेब खाली होने पर भी उन्होने अपने ईश्वरविश्वास में भरोसे जमानत देना स्वीकार किया किन्तु एक बार भी माफी नही माँगी। एक-दो बार तो ठीक जमानत के दिन कही से चैक आ गया और अखबार तथा प्रैस जब्त होने से बच गये। इन्द्रजी की मान्यता थी कि यह चैक ईश्वरकृपा का ही फल था। ऐसा अविचल और अटूट ईश्वरविश्वास उनकी आदर्शवादिता का सूचक है। 'जनसत्ता' से त्याग-पत्र देते समय भी उन्होंने जिस साहस और निस्पृहता का परिचय दिया था वह पत्रकारिता के इतिहास की अभूतपूर्व घटना है।

जैसा कि मैंने पहले कहा है कि पं० इन्द्रजी को शरीर-सृष्टि तो अपने पिता के अनुरूप मिली थी किन्तु बचपन से ही खासी बुखार ने उन्हे रोगी बना दिया था। तीन बार निमोनिया का प्रकोप हुआ। किशोरावस्था में प्लूरिसी रोग ने उनके फेफड़े को जर्जर कर दिया और आजीवन एक फेफड़े से जीवन-यात्रा पूरी करने पर बाध्य किया किन्तु पंडित जी ने एक क्षण को भी निराश और संत्रस्त होकर दैन्य और कार्पण्य का परिचय नही दिया। अपनी पहली पत्नी विद्या के निधन के बाद अपनी संतति के पालन-पोषण के लिए विवाह करना और जीवनसाथी खोजना गृहस्थ धर्म समझा। चन्द्रवती

जैसी पतिपरायण साध्वी पत्नी पाकर जीवन की सूनी राह को सुखी बनाया और अपनी संतति को सब प्रकार योग्य बनाने में पत्नी का सहयोग प्राप्त किया। रोगो से लड़ना-जूझना तो उनके नित्य-कर्म में शामिल हो गया था किन्तु जीवन की सध्यावेला में घर के चिकने फर्श पर आपका पैर फिसल गया, हिप बोन टूट गई। हिप बोन को ठीक करने की क्रिया अत्यन्त वेदनापूर्ण होती है। टूटी हड्डी में छेद करके गरारी डलवाना अत्यन्त कष्टप्रद होता है। इन्द्रजी ने चेतनावस्था में यह क्रिया पूरी की और मुख से आह तक नही निकाली। डाक्टर विस्मयविमुग्ध होकर पंडित जी को देखते रह गये। इस दुर्दिन के समय ही दिल्ली में संस्कृति सम्मेलन हुआ जिसके स्वागताध्यक्ष पडित इन्द्र जी थे। इन्द्रजी स्ट्रेचर पर लेटे हुए सम्मेलन मे पहुँचे और स्वागतभाषण दिया। डा० भगवानदास इस सम्मेलन के सभापति थे और पंडित जी की हिम्मत और आत्मबल की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे।

प० इन्द्रजी का सम्पूर्ण जीवन आशावाद, ईश्वरविश्वास, मनस्विता, सकल्पशक्ति और अडिग आस्था के बल पर झझावातो के वात्या चक्र में भी निष्कम्प दीपशिखा की भाति दीप्त और आलोकपूर्ण बना रहा। अर्जुन की दो प्रतिज्ञाओ पर पडितजी की सच्ची निष्ठा थी—'न दैन्य न पलायनम्।' शुभ सकल्पजनित कार्य के मार्ग की कठिनाइयों से घबराकर उसे बीच मे छोड देना उन्होंने सीखा ही न था। दीनता और भीरु होकर पलायन करना वे जानते ही नही थे। 'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना, प्रारम्भ उत्तमजनाः न परित्यजन्ति' में उनका अटूट विश्वास था। रोगशैय्या पर भी उनका ध्यान अपने शुभसकल्प पर लगा रहता था। जब उन्होने गुरुकुल को विश्वविद्यालय का पूर्ण दर्जा दिलाने का सकल्प किया तो मार्ग के सारे अवरोधो को दूर करने और ध्येय तक पहुँचने में उन्हे जो करना पड़ा वह 'मनस्वी कार्यार्थी न गणपति दुःख न च सुखम्'—का मूर्तिमान रूप था।

प० इन्द्रजी के आदर्श तीन व्यक्ति थे। पहले व्यक्ति थे महर्षि दयानन्द सरस्वती जिनको वह अपना नीतिशास्त्र और आचार मर्यादा का गुरु मानते थे। दूसरे आदर्श व्यक्ति थे उनके पिता स्वामी श्रद्धानन्द जिनको वे अपने कार्य की प्रेरकशक्ति मानते थे। स्वामीजी के प्रति आदर का भाव उनके मन में सदैव बना रहा। शैशव में आदर और सम्मान के साथ आतक भी था। उनकी खड़ाउं की आवाज को वह उनकी उपस्थिति मानते थे। अपने पिता की मानस-उपस्थिति ने उन्हे कभी विपथगामी नही होने दिया। तीसरे आदर्श व्यक्ति थे महात्मा गाधी जिन्हे वे राजनीति और राष्ट्रोत्सर्ग की दिशा मे अपना मार्गदर्शक मानते थे। राजनीति मे उनका प्रवेश लोकमान्य तिलक के समर्पित जीवन को देखकर हुआ था किन्तु तिलक जी का देहावसान शीघ्र हो जाने के कारण उनका निकट सम्पर्क नही बन सका।

जिन क्षेत्रों मे इन्द्रजी ने अपनी अभिरुचि से कार्य किया उनमे भारतीय सस्कृति, शिक्षा, स्वराज्य, साहित्य, धर्म और संचार माध्यम (पत्रकारिता) है। इन सभी क्षेत्रो मे

उनका प्रदेय उच्च स्तर का है। एक विद्या-विवेक सम्पन्न राष्ट्रपुरुष ही इतने व्यापक क्षेत्र मे कार्य कर सकता है। मैंने जिन क्षेत्रो का संकेत किया है उन सबमे पडित जी का स्थान वरेण्य रहा है। शिक्षा-क्षेत्र मे तो उनका अधिकाश समय कांगड़ी गुरुकुल की सेवा मे व्यतीत हुआ। स्वराज्यप्राप्ति के लिए वे राष्ट्रीय कांग्रेस कमेटी मे विभिन्न पदो पर रहकर कार्य करते रहे। कांग्रेस के मत्री और अध्यक्ष पद पर भी उन्होंने राष्ट्र-समर्पित भाव से छब्बीस वर्ष तक कार्य किया। साहित्य के क्षेत्र मे वे सर्जक के रूप में आजीवन सलग्न रहे और लगभग चार दर्जन पुस्तकें प्रकाशित कर छोड गये हैं। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति पद को भी उन्होने सुशोभित किया था। आर्यसमाज के कार्यों मे उनका ध्यान वैदिक धर्म के प्राचीन आदर्शों की ओर सतत् बना रहा। उन्होने धार्मिक कट्टरता या पाखड का कभी समर्थन नही किया। सनातन धर्म मे स्वीकृत आदर्श ग्रन्थो के प्रति उनका आदर-भाव और उदार दृष्टिकोण बना रहा। सचार-माध्यम मे पत्रकारिता उनका प्रिय विषय था। पत्रकारिता को आदर्शोन्मुख बनाये रखने के लिए उन्होने जो किया वह सर्वविदित है। इन समस्त विषयो का समेकित रूप हम भारतीय मनीषा मे प्लावित उनके सांस्कृतिक दृष्टिकोण मे देख सकते हैं।

× × ×

मैंने इस सक्षिप्त भाषण मे जानबूझकर अपने व्यक्तिगत संस्मरणों की चर्चा नही की है। किन्तु जिन सस्मरणो का सम्बन्ध सस्थागत है उनका यदि मैं उल्लेख कर दूँ तो शायद यह असगत न होगा। पडित जी से मेरा प्रथम परिचय तो सन् १९३३ मे हुआ था। वह भी परिचय नही, मात्र साक्षात्कार ही था। उस समय मैं गुरुकुल वृन्दावन मे विद्यार्थी था और वहाँ की विद्यापरिषद् का मत्री था। गुरुकुल के उत्सव उन दिनो बडे भव्य समारोह-पूर्वक मनाये जाते थे। उत्सव के समय किसी सभा या परिषद् का सभापति होना बड़े गौरव और सम्मान का विषय समझा जाता था। विद्यापरिषद् के मत्री होने के नाते मैंने अपनी ओर से पत्र लिखकर पडितजी को विद्यापरिषद् के अधिवेशन का सभापति होने का निमत्रण भेज दिया। गुरुकुल के आचार्य जी से भी मैंने न तो कोई अनुमति ली और न उनसे चर्चा ही की। पडित इन्द्रजी ने एक बालक के निमत्रण को स्वीकार कर सभापति बनना स्वीकार कर लिया। मैं इस स्वीकृति को अपनी महान् विजय मानकर प्रसन्नता से चहक उठा और सर्वत्र इस विजय का उद्घोष करता फिरा। गुरुकुल के आचार्य ने बताया कि वे दो वर्ष से लगातार पडित इन्द्रजी को गुरुकुल के उत्सव पर निमत्रण करते रहे हैं किन्तु पडितजी की स्वीकृति प्राप्त नही कर सके। पडितजी गुरुकुल पधारे तो आचार्यजी ने उपालम्भ भरे स्वर में उनसे कहा—"पडितजी हम दो वर्ष से आपको निमन्त्रित कर रहे हैं किन्तु आपने हमारा निमंत्रण स्वीकार न कर एक ब्रह्मचारी का निमत्रण स्वीकार कर लिया।" पडितजी ने मेरी उपस्थिति मे जो उत्तर दिया वह उनकी उदारता, सरलता और वत्सलता का द्योतक है। पडितजी ने कहा—"आचार्यजी, मैं विद्यार्थियो के बीच रहना पसन्द करता हूँ। मुझे यदि बालक निमत्रण देता है तो उसे आशीर्वाद देकर प्रसन्न करना

चाहता हूँ। बालक विजयेन्द्र का निमंत्रण भक्तिभाव से भरा निमंत्रण था, उसे अस्वीकार करने का साहस मैं बटोर नही सका, और वृन्दावन पहुँच गया।" पंडितजी की इस अहेतु की कृपा को मैं कभी भूल नही सका।

दिल्ली आ जाने पर मैं पडितजी के निकटसंपर्क मे आया। मैंने पडितजी को स्मरण दिलाया कि मैं वही विद्यार्थी हूँ जिसने सोलह वर्ष पहले आपको गुरुकुल वृन्दावन के उत्सव पर विद्यापरिषद् का सभापति बनाकर बुलाया था। पडित को वह बात याद थी और उसी के आधार पर मैं पडितजी का प्रिय शिष्य बन गया था। मैं दिल्ली विश्व-विद्यालय मे अध्यापक था किन्तु गुरुकुलों की उपाधियों को विश्वविद्यालय मे कोई मान्यता नही थी। पडितजी दिल्ली विश्वविद्यालय कोर्ट के सदस्य थे। मैंने पडितजी का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया कि गुरुकुल कांगडी की उपाधि अलकार और गुरुकुल वृन्दावन की उपाधि 'शिरोमणि' को भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर भी कोई मान्यता नही है। आप कोर्ट की मीटिंग मे इस प्रश्न को उठा दे तो इन उपाधियो को सहज ही मान्यता प्राप्त हो जाएगी और गुरुकुल के स्नातक एम०ए० कक्षाओ मे प्रवेश पा सकेंगे। पडितजी ने मुझसे प्रस्ताव तैयार करने को कहा और कोर्ट की बैठक मे वह प्रस्ताव रखा गया। इस प्रस्ताव के विरोध मे जो भाषण हुए उनकी चर्चा तो अनावश्यक है किन्तु उस समय जो उत्तर दिया गया वह प्रत्यक्ष-प्रमाण जैसा जीवन्त उत्तर था। पडितजी ने कहा—"अलकार उपाधिधारी का ज्ञान कैसा होता है इसका ज्वलन्त उदाहरण मैं हूँ। मैंने हिन्दी, सस्कृत और अंग्रेजी तीनों भाषाओ का ज्ञान अलकार परीक्षा उत्तीर्ण करके अर्जित किया है। किसी विद्यालय या पाठशाला मे एक दिन भी अध्ययन नही किया। गुरुकुल कागडी के आश्रम मे बैठकर ही यह ज्ञान प्राप्त किया, वही मेरी सम्पत्ति है। मेरे प्रस्ताव का समर्थन करने वाले प० विजयेन्द्रजी गुरुकुल वृन्दावन के शिरोमणि उपाधिधारी हैं। उन्होंने शास्त्री, बी० ए०, एम० ए० आदि उपाधियाँ तो विभिन्न विश्वविद्यालयो से प्राप्त की हैं किन्तु विश्वविद्यालयो मे जाकर किसी गुरु से विद्याध्ययन नही किया। जो ज्ञान उनके पास है वह गुरुकुल शिक्षापद्धति की देन है। स्वाध्याय से ही उन्होंने सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण कर गुरुकुल वृन्दावन की शिरोमणि परीक्षा का महत्त्व स्थापित किया है। यदि गुरुकुल की परीक्षाओ की पठनविधि तथा अध्यापकमडली पर दृष्टि डाली जाय तो किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय से निम्न स्तर की नही मिलेगी।"

पडित जी ने अपने लम्बे भाषण में गुरुकुल की शिक्षाप्रणाली, पाठविधि और व्यापक दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए कोर्ट की उसी बैठक मे गुरुकुल की अलकार और शिरोमणि परीक्षाओ को दिल्ली विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा के समकक्ष स्वीकृति दिला दी। इस स्वीकृति के बाद केन्द्रीय सरकारी सेवा मे भी इन उपाधियो को बी०ए० के समतुल्य माना जाने लगा। इस स्वीकृति मे भी पडित जी का ही मुख्य योगदान है। गुरुकुल स्नातक अब सीधे एम०ए० परीक्षा मे प्रवेश पाते हैं।

गुरुकुल कागडी को विश्वविद्यालय स्तर की मान्यता प्राप्त होने पर यहाँ की पाठ-

विधि में कुछ परिवर्तन करना उचित प्रतीत हुआ। पंडित जी उस समय उप-कुलपति पद पर आसीन थे। उन्होंने एक उप-समिति का गठन किया और पाठ्यक्रम को नया रूप दिया। मुझे उस समय पंडित जी के साथ काम करने का अवसर मिला और मैंने देखा कि साहित्य, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्त्व, वैदिक वाङ्मय आदि विविध क्षेत्रों में पंडित जी की गहरी पैठ थी और पाठ्यक्रम समिति को उनके परामर्शों से अद्भुत दिशा-निर्देश प्राप्त होता था। मुझे दो बार गुरुकुल भूमि में एक-एक सप्ताह ठहर कर एम० ए० कक्षा के छात्रों को पढ़ाने का भी सुयोग प्राप्त हुआ था। अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्रों में उनकी दृष्टि भारतीय तत्त्वचिन्तन से सदैव जुड़ी रहती थी। उनके तत्त्वचिन्तन के मूल में भारतीय मनीषा की ही प्रधानता रहती थी। शैशव से युवावस्था तक गुरुकुल आश्रम के अनुशासन में रहकर उन्होंने जो संस्कार सँजोए थे वे उनके रोम-रोम में व्याप्त थे। उन संस्कारों को पंडित जी कभी भुला नहीं सके। आधुनिकयुग के वैज्ञानिक और तकनीकी यान्त्रिक आविष्कारों से पंडित जी किसी चाकचक्य में नहीं फँसे वरन् इन आविष्कारों को भारतीय परिवेश में ग्रहण करने का पथ बनाते रहे। पंडित जी जब संसद्-सदस्य थे उस समय कई विद्वानों ने उन्हें गुरुकुल को आधुनिक विश्वविद्यालय का रूप देने का परामर्श दिया। पंडितजी ने सभी परामर्शों को ध्यानपूर्वक सुना किन्तु भारतीय मनीषा के मूल से उच्छिन्न होकर किसी पाश्चात्य सरणि की कलम बनना स्वीकार नहीं किया। पंडित जी का संसद् सदस्यता का काल, उनकी अस्वस्थता में अधिक बीता। यदि पंडित जी उस समय पूर्ण स्वस्थ होते तो अपने भाषणों और विचारों से संसद् को भारतीय संस्कारों की संसद् बनाने में अवश्य अपना योग देते।

संक्षेप में, पंडित जी एक सांस्कृतिक राष्ट्रपुरुष थे। बीसवीं शताब्दी में जिन महापुरुषों ने भारत को स्वाधीन बनाने और भारत की अस्मिता को पुन: स्थापित करने में योग दिया उनमें पं० इन्द्रजी की बड़े गौरव के साथ गणना होगी। कांगड़ी गुरुकुल विश्वविद्यालय को इस बात का गर्व करना चाहिए कि पं० इन्द्रजी इसके प्रथम छात्र, प्रथम स्नातक और प्रथम उपकुलपति थे। उनकी सेवाभावना और सद्प्रयासों से गुरुकुल को आधुनिक विश्वविद्यालय का स्तर प्राप्त हुआ। उनकी जन्मशती के अवसर पर हम उनका श्रद्धावनत भाव से स्मरण करते हैं। हमारी आकांक्षा है कि हम उनके पुनीत जीवनादर्शों से प्रेरणा लेकर भारतीय मनीषा के उज्ज्वल ऋत-सत्य को मानव कल्याण के लिए विश्व के समक्ष प्रस्तुत करने में संलग्न हों। हमारी कामना है कि गुरुकुल की इस पावनभूमि में पं० इन्द्रजी विद्यावाचस्पति की अव्यक्त वाणी और अमूर्त आकृति सदा विद्यमान रहे और हमें भी कल्याण मार्ग का पथिक बनाकर अपने पथ का अनुसरण करने की क्षमता प्रदान करे।

—•—

# श्री पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति जी द्वारा लिखित पुस्तकों की सूची

| क्रम नाम पुस्तक | | प्रकाशन वर्ष |
|---|---|---|
| 1. नैपोलियन बोनापार्ट की जीवनी | (जीवन चरित्र) | 1912 |
| 2. उपनिषदों की भूमिका | (दर्शन व भारतीय संस्कृति) | 1914 |
| 3. प्रिंस बिस्मार्क | (जीवन चरित्र) | 1914 |
| 4 संस्कृत साहित्य का अनुशीलन | (साहित्य) | 1915 |
| 5. राष्ट्रों की उन्नति | (राजनीति) | 1915 |
| 6. राष्ट्रीयता का मूल मन्त्र | (राजनीति) | 1916 |
| 7. गेरीबाल्डी | (जीवन चरित्र) | 1916 |
| 8. स्वर्ण देश का उद्धार | (नाटक) | 1921 |
| 9 महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र | (जीवन चरित्र) | 1927 |
| 10. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण 1, 2 | (इतिहास) | 1930 |
| 11 मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण 3, 4 | (इतिहास) | 1831 |
| 12. अपराधी कौन | (उपन्यास) | 1932 |
| 13. शाह आलम की आंखें | (उपन्यास) | 1932 |
| 14 जीवन की झांकियाँ–दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन | (संस्मरण) | 1935 |
| 15. पंडित जवाहरलाल नेहरू | (जीवन चरित्र) | 1936 |
| 16. जमींदार | (उपन्यास) | 1936 |
| 17. सरला की भाभी | (उपन्यास) | 1944 |
| 18 सम्राट रघु | (जीवन चरित्र) | 1944 |
| 19. जीवन की झांकियाँ—मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला | (संस्मरण) | 1945 |
| 20. स्वतंत्र भारत की रूपरेखा | (राजनीति) | 1945 |
| 21. जीवन संग्राम. | (राजनीति) | 1945 |
| 22 सरला | (उपन्यास) | 1945 |
| 23. जीवन की झांकियाँ—मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव | (संस्मरण) | 1947 |

| क्रम पुस्तक का नाम | | प्रकाशन वर्ष |
|---|---|---|
| 24. आत्मबलिदान | (उपन्यास) | 1948 |
| 25 हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति | (संस्मरण) | 1952 |
| 26 स्वराज्य और चरित्रनिर्माण | (सामाजिक) | 1952 |
| 27. रघुवंश | (साहित्य) | 1954 |
| 28. किरातार्जुनीयम् | (साहित्य) | 1955 |
| 29. ईशोपनिषद् भाष्य | (भारतीय संस्कृति) | 1955 |
| 30. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय (प्रथम भाग) | (इतिहास) | 1856 |
| 31. आधुनिक भारत मे वक्तृत्व कला की प्रगति | (विविध) | 1956 |
| 32. मेरे पिता | (जीवनी) | 1957 |
| 33 भारतीय संस्कृति का प्रवाह | (धार्मिक) | 1958 |
| 34. मैं इनका ऋणी हूँ | (जीवनी) | 1959 |
| 35. भारत के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास | (इतिहास) | 1961 |
| 36 लोकमान्य तिलक | (जीवनी) | 1963 |
| 37. भारतेतीहाम् | (संस्कृत काव्य) (भारतीय इतिहास) | 1963 |
| 38. मेरे पत्रकारिता सम्बन्धी अनुभव | (सामाजिक) | 1960 |
| 39 आत्मचरित्र | (जीवनी) | प्रकाशित हो रहा है |
| 40. आर्य समाज का इतिहास प्रथम भाग) | (इतिहास) | प्रकाशित |
| 41. ,, ,, (द्वितीय भाग) | ,, | ,, |
| 42. ,, ,, (तृतीय भाग) | ,, | ,, |
| 43. जीवन ज्योति | (जीवनी) | ,, |
| 44. काव्य कुसुमाजंलि (संस्कृत कविताएँ) | (साहित्य) | ,, |
| 45. यतीन्द्रनाथ दास का जीवनचरित्र | (जीवनी) | ,, |
| 46 बालोपयोगी वैदिक धर्म की पुस्तक | (धार्मिक) | ,, |
| 47. गुलाम कादिर | (उपन्यास) | ,, |
| 48. वैदिक देवता | (धार्मिक) | ,, |
| 49. कांग्रेस का इतिहास | (इतिहास) | ,, |
| 50. गुरुकुल शिक्षापद्धति के मूलभूत सिद्धान्त | (शिक्षा) | ,, |

—ए ५/३, राणाप्रताप बाग
दिल्ली–७



गुरुकुल संग्रहालय के सौजन्य से —

सुप्रसिद्ध दार्शनिक सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन दीक्षान्त के लिए गुरुकुल पधारे। नवस्नातको का सामूहिक चित्र लिया गया।

चित्र मे—कुर्सियो पर बैठे हुए

बाएँ से—पण्डित अर्जुनदेव, पण्डित धर्मपाल विद्यालंकार, डा० धर्मानन्द केसरवानी एम० डी०, प० इन्द्र विद्यावाचस्पति, सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, चतुर्वेद–भाष्यकार पण्डित जयदेव जी, इतिहासवेत्ता डा० सत्यकेतु विद्यालकार तथा राष्ट्रकवि पद्मभूषण श्री रामधारी सिंह दिनकर।

# सफल पत्रकार

## प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति (१८८९-१९६०)

— पद्मश्री आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन'

प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति हिन्दी-पत्रकारिता-गगन के एक ज्वलन्त नक्षत्र थे। आपने विद्यार्थी-जीवन में पत्रकार बनने की जिस भव्य-भावना को अपने मानस मे संजोया था, उसको कार्यरूप मे परिणत करके अपनी ध्येय-निष्ठा और कर्मठता का अपूर्व परिचय दिया है। हिन्दी-पत्रकारिता और विशेषत: उत्तर-भारत के जन-जागरण में आपका प्रमुख योग रहा था। आपकी लेखन-शैली सरल, सुष्ठु और प्रसादगुणमयी होती हुई भी विरोधियों के मनसूबों को चकनाचूर करने की महती क्षमता रखती थी। यह कार्य उनके द्वारा संचालित-सम्पादित 'विजय' और 'वीर अर्जुन' ने किया था। हिन्दी को अपने ऐसे समर्थ, प्रतिभा-शाली एवं निर्भीक पत्रकार पर गर्व है।

आपका जन्म ९ नवम्बर सन् १८८९ ईस्वी को पंजाब के जालधर नगर मे हुआ था। आपके पिता का नाम 'महात्मा मुन्शीराम' था, जो बाद मे 'स्वामी श्रद्धानन्द' के रूप मे विख्यात हुए थे। इन्द्रजी का बचपन का नाम 'इन्द्रचन्द्र' था। यह भी एक संयोग की बात है कि आपके जन्म से ५ दिन बाद ही भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का जन्म हुआ था। दोनों के ही पिता साथ-साथ एक कालिज मे पढ़ते थे और एक साथ ही अखाड़े मे कुश्ती लड़ते थे। अपनी इस पारिवारिक याद को बनाए रखने के लिए ही इन्द्रजी ने दिल्ली में जब अपना निजी निवास बनाया तो वह भी जवाहरनगर मे ही बनाया था।

इन्द्रजी के पिता आर्यसमाज के प्रमुख नेताओ मे थे। यही बात बालक इन्द्र के जीवन को बदलने वाली थी। उनके जन्म के वर्ष में ही महात्मा मुन्शीराम ने उर्दू मे 'सद्धर्म प्रचारक' नामक पत्र निकाला था, जो आर्यसमाज का मुखपत्र माना जाता था। सौभाग्य के साथ दुर्भाग्य भी लगा रहता है। अभी उनकी आयु केवल २ वर्ष की ही थी कि माता का देहान्त हो गया। उनका लालन-पालन उनकी ताई श्रीमती जमुनादेवी की गोद मे हुआ। उनके पिताजी के पास उन दिनों आर्यपथिक लेखराम जी आया करते थे। कल्याणमार्ग के उन दोनो पथिको के वार्तालाप को बालक इन्द्र जब सुनता था, तब उसके मानस मे वैसे ही संस्कार पनपते जा रहे थे। जब वे केवल ३ वर्ष के थे, तब उनके पिताजी पंजाब की 'आर्य-प्रतिनिधि सभा' के प्रधान निर्वाचित हुए थे। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा जालन्धर के 'दोआबा हाईस्कूल' मे हुई। उनके बडे भाई हरिश्चन्द्र भी उसी स्कूल मे पढते थे। दोनो भाई उन दिनो 'सत्यप्रकाश व असत्य विचारक' नामक एक हस्तलिखित अखबार निकालते थे। उस पत्र पर 'सद्धर्म प्रचारक' तथा 'सरस्वती' दोनों की छाप रहती।

थी। उस समय इन्द्रजी की आयु ७ वर्ष की होगी और हरिश्चन्द्र की ९ वर्ष की। उनकी पत्रकारिता का यह पहला अनुभव था।

आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब का प्रधान बनने पर महात्मा मुन्शीराम ने आर्यसमाज के लिए उपदेशक तैयार करने की दृष्टि से लाहौर में सन् १८६१ ई० में 'उपदेशक श्रेणी' नाम से एक पाठशाला खोली, जो बाद में सन् १८६३ ई० में वहाँ से जालन्धर आ गई और इसका नाम बदलकर 'वैदिक पाठशाला' कर दिया गया। इस पाठशाला के आचार्य पं० गंगादत्तजी शास्त्री (बाद में स्वामी शुद्धबोध तीर्थ) थे और पहले चार छात्र थे पं० भगउराम (डीमा निवासी), पं० शिवमित्र, पं० पद्मसिंह शर्मा और पं० नरदेव शास्त्री। इस पाठशाला के प्रबन्ध का सारा दायित्व महात्मा मुन्शीराम का था। यह पाठशाला बाद में सन् १८६३ में गुजरांवाला भेज दी गई और इसका नाम 'गुरुकुल गुजरांवाला' रख दिया गया। कांगड़ी में स्थापित होने वाले गुरुकुल की यह भूमिका थी। बालक इन्द्रजी को अपने बड़े भाई हरिश्चन्द्र के साथ इसी गुरुकुल में अध्ययनार्थ भेज दिया गया।

इसी बीच महात्मा मुन्शीराम को बिजनौर जिले के कांगड़ी ग्राम के मुन्शी अमनसिंह ने अपना सारा गाँव गुरुकुल की स्थापना के लिए भेंट कर दिया। उनकी आशा पूरी हुई और फूँस के कुछ छप्पर वहाँ बनवाकर आप गुजरांवाला पहुँचकर सारे ब्रह्मचारियों को कांगड़ी लिवा लाए। इस प्रकार अपनी शिक्षा इस गुरुकुल में पूर्ण करके इन्द्रजी सन् १९१२ में स्नातक हुए। प्रारम्भ में आपने वहाँ पर ही संस्कृतसाहित्य, तुलनात्मक धर्म सिद्धांत एवं इतिहास विषयों का अध्ययन किया और सन् १९१४ से १९६० तक आपने सहायक मुख्याधिष्ठाता और कुलपति के रूप में इस संस्था की सेवा की। पत्रकारिता के क्षेत्र में आप सन् १९११ में उसी समय आ गए थे जब छात्र थे। महात्मा मुन्शीराम ने 'सद्धर्म प्रचारक' नामक दैनिक पत्र वहाँ से प्रारम्भ किया था। 'वीर अर्जुन' की प्रकाशन-संस्था की ओर से आपने नवम्बर सन् १९४७ में 'मनोरंजन' नामक एक साप्ताहिक-मासिक पत्र का प्रकाशन भी किया था, जिसका सम्पादन श्री चिरंजीत ने किया था। यह पत्र जनवरी सन् १९४९ तक प्रकाशित हुआ था। 'वीर अर्जुन' के सम्पादन के दिनों में आपको कई बार ब्रिटिश नौकरशाही से भी डटकर लोहा लेना पड़ा था। इस कार्य-काल में दिल्ली में रहते हुए आपने जहाँ कई वर्ष तक जिला व प्रदेश कांग्रेस कमेटियों के प्रधान के रूप में जनता का सफल नेतृत्व किया था, वहाँ आप कई वर्ष तक 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' के मन्त्री तथा प्रधान रहने के अतिरिक्त 'आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब' और 'अखिल भारतीय-पत्रकार संघ' के भी अध्यक्ष रहे थे। आप 'लोकसेवा आयोग' तथा भारत के शिक्षामन्त्रालय की अनेक समितियों के भी सम्मानित सदस्य के रूप में कार्य करने के साथ-साथ दिल्ली म्युनिसिपल कमेटी और राज्यसभा के भी सदस्य रहे थे।

एक उच्चकोटि के निर्भीक पत्रकार के रूप में आपने जहाँ देश के राष्ट्रीय जागरण में अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया, वहाँ एक गम्भीर और चिन्तनशील विचारक एवं लेखक

के रूप मे भी आपकी देन कम महत्त्व नहीं रखती। आपने जहाँ अनेक ऐतिहासिक तथा राजनीतिक उपन्यासों की रचना की थी, वहाँ भारतीय इतिहास, राजनीति, सस्कृति एवं धर्म की महत्ता पर प्रकाश डालने वाले अनेक ग्रन्थ भी लिखे थे। आपकी प्रमुख रचनाओं मे 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण', 'भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अ.त', 'भारत के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास', 'आर्य समाज का इतिहास', 'सस्कृत साहित्य का अनुशीलन', 'भारतीय सस्कृति व राजनीति', 'उपनिषदों की भूमिका', 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह', 'ईशोपनिषद् भाष्य', 'राष्ट्रों की उन्नति', 'राष्ट्रीयता का मूलमत्र', 'स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा', 'राजधर्म' 'गाधी-हत्या-काण्ड', 'जीवन-सग्राम', 'मेरे पिता' 'नेपोलियन बोनापार्ट', 'प्रिंस बिस्मार्क', 'जीवन-झांकियाँ', 'गैरीबाल्डी', 'महर्षि दयानन्द', 'प० जवाहरलाल नेहरू', 'हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति', 'सरला की भाभी', 'सरला', 'आत्म-बलिदान', 'गुलाम कादिर' और 'स्वर्णदेश का उद्धार' आदि उल्लेखनीय हैं।

पत्रकारिता के सस्कार आपके मानस में बचपन से ही थे। इसी कारण छात्र जीवन मे भी आपने 'सद्धर्म प्रचारक' के लिए लेख आदि लिखने के साथ-साथ 'उषा' तथा 'सत्यप्रकाश' नामक हस्तलिखित पत्रिकाएँ भी सम्पादित की थी। अपने अध्ययन-काल मे सस्कृत तथा हिन्दी की काव्य-रचना करने मे भी आप बहुत निष्णात थे। उनकी छात्र-जीवन की यह कविता उनकी उदात्त प्रकृति की द्योतक है :

हे मातृभूमि तेरे चरणो में सिर नवाऊँ,
मैं भक्ति-भेंट अपनी तेरी शरण मे लाऊँ।
तेरे ही काम आऊं तेरा ही मन्त्र गाऊँ,
मन और देह तुझ पर बलिदान मैं चढाऊँ॥

बचपन से ही यह बलिदानी भावना उनके सार्वजनिक जीवन को निखारने मे कितनी सक्रिय सिद्ध हुई, इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि देश की स्वाधीनता के लिए पत्रकारिता के क्षेत्र मे अनेक सघर्ष करने के साथ-साथ उन्होने तीन बार (सन् १९२७, १९३० और १९३२) जेल-यात्राएँ भी की। हिन्दी-पत्रकारिता, साहित्य तथा सस्कृति के क्षेत्र मे की गई बहुविध सेवाओ के उपलक्ष्य में आपको 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की ओर से सन् १९५० ई० मे 'साहित्य वाचस्पति' की सम्मानित उपाधि से भी अलकृत किया गया था। आपका निधन २३ अगस्त, १९६० ई० को दिल्ली मे हुआ था।

आपके स्वनामधन्य पिता स्वामी श्रद्धानन्द आपके प्रति किस प्रकार की भावनाएँ रखते थे, इसका परिचय आप उनके नाम लिखे गए विभिन्न पत्रो मे से एक पत्र की इन पक्तियो से भलीभाँति प्राप्त कर सकते हैं—"जिस दिन के लिए मैं रातो-रात जागकर परमेश्वर से प्रार्थना करता रहा, जिसके लिए मैं ससार के असह्य-से-असह्य दुःखो को सहन करता रहा, वह दिन अब मैंने देखा।" यह अंश उस पत्र से उद्धत किया गया है, जब इन्द्रजी ने अपना जीवन गुरुकुल की सेवा मे समर्पित करने की सार्वजनिक घोषणा की थी—

"इस समय तुम ही मेरी आशाओं के केन्द्र हो। मैं सब सम्मतियाँ तुमसे ही लेता हूँ।"

"मेरे सबसे अधिक आज्ञापालक शिष्य तुम ही हो। इसलिए मेरा तुम्हारे साथ प्रेम का अटूट सम्बन्ध है।"

उनके पिता द्वारा अभिव्यक्त ये विचार ही इन्द्रजी की कर्त्तव्यपरायणता की सच्ची कसौटी हैं। इन्द्रजी का व्यक्तित्व ही आदर्श और अनुकरणीय नहीं था, उनके विचार भी उतने ही ऊँचे और मार्गदर्शक थे। अपनी इस दीर्घकालीन पत्रकारिता के दिनों मे उन्होंने जो विचार समय-समय पर प्रकट किए थे, वे सर्वथा अद्वितीय एवं अनुपम थे। उनके अग्रलेखों को पढ़कर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे कोरे साहित्यिक, चिन्तक और पत्रकार ही नहीं थे, प्रत्युत राष्ट्र के मार्ग-प्रदर्शक भी थे। राष्ट्रीय जागरण उनकी लेखनी का पहला लक्ष्य था और इसी की सम्पूर्ति में वे यावज्जीवन लगे रहे।

—अजय निवास दिलशाद कालोनी.
शाहदरा, दिल्ली-110 095

—०—

# स्मृति के संपुट से

—पद्मश्री डा० कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर

'अर्जुन' दैनिक ने अपने ही साइज मे अपना रविवारीय विशेष संस्करण प्रकाशित करना आरम्भ किया, तो उसका टाइटिल पेज पीले रंग का होता था। उस चिकने-पीले कागज पर देश-विदेश के किसी विशेष पुरुष का जीवन-परिचय रहता था। हिन्दी की संस्मरणकला तब उभरकर अपना नया रूप ले ही रही थी और मैं हिन्दी पत्रो का एक व्यापक पाठक था— साधारण-से-असाधारण तक सब पत्रों का पाठक, जो उन जीवन-परिचयो की ओर मेरा ध्यान एकदम गया। ये जीवन-परिचय प्रायः 'अर्जुन' के सम्पादक श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति के लिखे होते थे।

इन जीवन-परिचयों में घटनाओ का क्रम-विकास ऐसा गजब का होता था कि जीवन का फूल खिलता चला जाता था। मुझ पर लेखक बनने का भूत सवार हो चुका था और मैं आश्चर्य से सोचा करता था कि इनके पास हर आदमी की इतनी अधिक क्रमबद्ध जानकारी कहाँ से आती है? इस जिज्ञासा और आश्चर्य के रूप मे इन्द्र जी से मेरा पहला परिचय हुआ।

यह १६२६–२७ की बात है शायद, पर मैंने उन्हें पहली बार देखा पदग्रहण के सम्बन्ध मे कांग्रेस द्वारा आयोजित दिल्ली कन्वेंशन मे। इन्द्र जी उसके स्वागताध्यक्ष थे। लम्बा कद, भरी छरहरी देह, कुरता-धोती का वेश, नगे सिर और गले मे साफा—सात्विक और प्रभावशाली व्यक्तित्व। यह १६३६ की बात है।

१६२६ और १६३६ के बीच की एक और बात हुई। १६३२ के सत्याग्रह आन्दोलन में मैं जेल गया, तो 'बी' क्लास के कारण मुझे भी फैजाबाद जेल मे रहने का सौभाग्य मिला। वहीं किसी से लेकर पढी उनकी पुस्तक 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण'। कहने को तो सचमुच इतिहास की प्रामाणिक पुस्तक है, पर इतनी सरल, इतनी सजीव कि निश्चित रूप से एक कलाकृति। पढकर मन मुग्ध हो गया और एक श्रेष्ठ लेखक के रूप मे मेरे मन पर उनका प्रभाव अंकित हो गया।

इन प्रभावों के साथ एक और भी प्रभाव आरम्भ में ही मेरे मन पर पड़ा। वह था उनके अग्रलेखो का। 'अर्जुन' के १॥–१॥। कालम मे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयो पर इनके अग्रलेख होते। इतने स्पष्ट और समझाऊ कि पढ़कर अज्ञ भी विशेषज्ञ का

अभिमान कर सके। 'अर्जुन' की एक और बात भी मुझे प्रभावित करती थी कि सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध मे मैं कोई बात लिखता तो तुरन्त उस पर कार्यवाही हो जाती थी। एक बार तो मेरे पत्र के आधार पर उन्होंने एक साम्प्रदायिक प्रश्न पर सम्पादकीय टिप्पणी भी लिख दी थी।

इस प्रकार बिना किसी विशेष जानकारी के मेरे मन पर उनके व्यक्तित्व का जो चित्र अंकित हो गया था, उसमे एक श्रेष्ठ लेखक, श्रेष्ठ पत्रकार और श्रेष्ठ व्यक्ति के गाढ़े रंग थे। १९४४ तक मेरा उनका यही अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा।

## धधकते ज्वालामुखी में भी शीतल

जयपुर-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति का चुनाव हुआ, तो वे भी उम्मीदवार थे। सम्मेलन के महन्त, श्री एन० सी० मेहता, आई० सी० एस० को सभापति चुनवाने पर तुले हुए थे, पर १९४२ की क्रान्ति के ठप्पे पड़ जाने पर भी उसकी गरमी शेष थी। इसलिए जनसाधारण किसी राष्ट्रीय साहित्यकार को चुनने के पक्ष में था। खूब कन्वेसिंग हुई, खूब भाग दौड़ हुई। एक-एक वोट पर ध्यान रखा गया और सब मत-पत्र सम्मेलन कार्यालय मे पहुँच गये।

उन्हे गिनने के लिए तीन आदमियो की जो समिति बनी, उसमें श्री आनन्द कौशल्यायन भी थे। वह राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के मत्री थे और समिति की पत्रिका 'राष्ट्रभाषा' के सम्पादक भी। उन दिनो वे सम्मेलन के अतिथि-भवन मे ठहरे हुए थे और समय की बात वही ठहरे हुए थे तेजस्वी पत्रकार श्री विष्णुदत्त मिश्रा 'तरंगी'।

वोटो की गिनती कर कौशल्यायन जी अतिथि भवन लौटे, तो तरंगी जी से कहा—"हमें 'राष्ट्रभाषा' के लिए इन्द्र जी पर एक जीवनपरिचय चाहिए। आप तो उनसे परिचित हैं। क्या आप लिख देंगे?"

'तरंगी जी' महाघाघ पत्रकार। उन्होने जीवनपरिचय लिखने का वायदा किया और बिना कौशल्यायन जी को सूचना दिये तुरन्त डाकघर पहुँच, दिल्ली के दैनिको को तार खड़खड़ा दिया—श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति सम्मेलन के सभापति चुने गये हैं।

बात अभी गुप्त थी और कौशल्यायन जी ने उस गुप्तता की पूरी तरह रक्षा की थी, पर प्रवीण पत्रकार ने अपनी अनुमान-चातुरी से उसका भडाफोड़ कर दिया था। यह एक साधारण बात थी, पर यह तब असाधारण हो गयी, जब दूसरे ही दिन दिल्ली के पत्रो मे इन्द्र जी के सभापति चुने जाने की खबर छपी और सम्मेलन-कार्यालय से रातभर की उथल-पुथल के बाद उसी दिन श्री मेहता के सभापति चुने जाने की घोषणा हुई।

क्या हुआ यह स्पष्ट था, पर उसे पचाना मेरे गरम खून के लिए असम्भव था। मैंने पत्रों और साहित्यिकों को उसी दिन छपाकर एक वक्तव्य भेजा कि यदि सम्मेलन के महन्त जन-जन द्वारा निर्वाचित इन्द्र जी को सभापति नही मानते, तो मैं सम्मेलन भवन में अमुक तारीख से आमरण अनशन आरम्भ करूँगा।

महन्तों की नादिरशाही से जनता का मन उद्विग्न था, इसलिए सबको यह वक्तव्य अपना ही लगा और पत्रों में एक सनसनीदार आन्दोलन आरम्भ हो गया। इसी समय मैं पहली बार इन्द्र जी से मिला। उन्होने मेरे साहसी कदम की प्रशसा की, पर मुझ पर इस बात का अधिक प्रभाव पड़ा कि इन घड़ियो मे भी वे पूरी तरह शान्त-सन्तुलित थे और घण्टो साथ रहने पर भी उन्होने कोई शब्द ऐसा नही कहा, जिसे किसी तरह भी तीखा या गरम कहा जा सके।

मैं अनशन की निश्चित तिथि से एक सप्ताह पूर्व प्रयाग जा पहुँचा और तैयारियाँ आरम्भ कर दी। वातावरण बहुत पैना था। जहाँ सम्मेलन के कर्णधार इस पर तुले हुए थे कि मुझे सम्मेलन-भवन की सीमा मे नही घुसने देंगे, वहाँ दूसरे प्रभावशाली लोग इस पर तुले हुए थे कि मुझे ४–५ हजार आदमियो के जुलूस के साथ सम्मेलन-भवन पहुँचायेंगे और किसी भी बाधा को तोड़ फेंकेंगे।

इस ज्वालामुखी उष्णता मे इन्द्र जी ने ऐसी वर्षा की कि चारो ओर हिमपात की ठडक छा गई। उन्होंने अनशन से तीन दिन पूर्व पत्रो मे यह वक्तव्य प्रकाशित करा दिया कि 'यदि मुझे सभापति बनाने के लिए एक घण्टा भी अनशन किया गया, तो मेरे लिए वह पद रक्तरंजित हो जायेगा और उस पर बैठने की इच्छा मैं करूँ, तो मेरी आत्मा मुझे धिक्कारेगी। सम्मेलन के सभापति पद से मैं स्वय पृथक् हो गया हूँ और प्रभाकर जी से अनुरोध करता हूँ कि वे अनशन का विचार त्याग दे।'

इन्द्र जी ने अनशन का आधार ही समाप्त कर दिया था। मैं लौट आया और दिल्ली मे इन्द्र जी से मिला। मेरी सूचना थी कि यह वक्तव्य उन्होने महन्तो के हाथ-पैर जोड़ने पर दिया था, जिन्होने उनके साथ वह नादिरशाही बरती थी। मैंने बारम्बार यह बात उनसे पूछी। वह हँसते रहे, पर उन्होने भूलकर भी हाँ न की। वे कितने गम्भीर थे, कितने विश्वसनीय।

इस घटना के बाद मैं उनका आत्मीय हो गया था और मुझे बहुत बार उनके साथ मिलने और मन की बातें करने के अवसर मिले थे। वह स्पष्ट थे, खरे थे, सरस थे, सरल थे। उनसे मिलकर बुद्धि को स्पष्टता और मन को चिकनाई मिलती थी। असल मे वह अपनी पीढ़ी के श्रेष्ठ प्रतिनिधि थे।

## दिल्ली की वृद्धत्रयी

दिल्ली की राजनीतिक वृद्धत्रयी थी— सर्वश्री हकीम अजमल खाँ, डाक्टर अंसारी और स्वामी श्रद्धानंद। इन्होंने नवयुग के बीज बोये थे। इसके बाद की वृद्धत्रयी थी — सर्वश्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, बैरिस्टर आसफ अली और देशबन्धु गुप्त। इन्द्र जी अपनी त्रयी में अपने राजनीतिक ज्ञान, अपनी देशसेवा, समाज-सेवा और चरित्र के कारण सीनियर थे, पर राजनीति की भागदौड़ में वह जूनियर हो गये थे। यह इसलिए कि वह धक्का देकर आगे बढ़ने को और किसी के हिज मास्टरस वायस बनने को अनुचित समझते थे। उनमें सत्य, शिव, औचित्य और मर्यादा के पूर्ण भाव थे।

मैंने बहुत बार उनके मन को उलट-पलट कर देखा था कि क्या अपने को राजनीतिक पद पर न पा, वे अपनी असफलता अनुभव करते हैं ? पर असफलता का असन्तोष या रोष मुझे कभी उनके मन के किसी कोने में नहीं मिला। वे अपने जीवन से सन्तुष्ट थे, अपने में परिपूर्ण थे, अपने साहित्यिक कार्य का महत्त्व अनुभव करते थे और इसलिए कोई-न-कोई अच्छी रचना करते रहते थे।

## सरलता और व्यवस्था-नीति

मेरे द्वारा सम्पादित 'नया जीवन' में गुरुकुल कांगड़ी की निर्माणशाला का विज्ञापन छपता था। उसी बीच एक नैतिक प्रश्न को लेकर मैंने एक टिप्पणी में गुरुकुल की आलोचना की। कुछ दिन बाद विज्ञापन बन्द हो गया, पर उस आलोचना के कारण ऐसा हुआ, इस बात पर मेरा ध्यान नहीं गया। कोई डेढ़ साल बाद मैंने इन्द्र जी को लिखा कि क्या 'नया जीवन' को गुरुकुल का विज्ञापन और विकास प्रेस को छपाई का कार्य मिल सकता है ? वे तब गुरुकुल के वाइस-चांसलर थे।

उन्होंने गुरुकुल के अधिकारी से इस सम्बन्ध में पूछा तो उसने उन्हें लिखा कि इन्होंने अपने पत्र में गुरुकुल की आलोचना लिखी थी, इसलिए श्री·········· ने विज्ञापन बन्द कर दिया था। इस स्थिति में इन्हें विज्ञापन या छपाई का काम देना उचित नहीं है। इन्द्र जी ने वह पत्र मुझे भेज दिया और लिखा कि श्री······ तो आपके मित्र हैं, आप उन्हें एक पत्र लिख दें, तो नाराजगी दूर हो जाएगी, काम तो मिलेगा ही, मुझे प्रसन्नता भी होगी।

इस बात से मुझ पर इन्द्र जी की सरलता का प्रभाव तो पड़ा ही, पर उनकी व्यवस्थानीति का परिचय भी मुझे मिला कि वे अपने मातहतों की स्वतन्त्रता में दखल देना उचित न समझते थे और उनसे कोई काम कराना भी हो, तो उन पर अपना प्रभाव डालकर नहीं, स्वयं उनका ही मन अनुकूल बनाकर कराते थे।

## सोचते हैं, करते कुछ नहीं

प्रधानमंत्री नेहरू जी गुरुकुल के विज्ञान-भवन का उद्घाटन करने जा रहे थे।

इन्द्र जी उनका स्वागत करने सहारनपुर आये, तो उनका साथ मिला। वह लेटे हुए थे और श्री दीनदयालु शास्त्री एम० एल० ए० मुझसे बात कर रहे थे। मैंने पूछा—"शास्त्री जी, आप एम० एल० ए० होने के कारण लखनऊ रहते हैं और बड़ों से मिलते हैं। मैं धरती का कार्यकर्त्ता हूँ और देख रहा हूँ कि कांग्रेस का महान संगठन मौत के रास्ते पर जा रहा है। क्या कांग्रेस के बड़े भी इस बात को मानते हैं और इस बारे मे सोचते हैं?"

शास्त्री जी बोले—"राज्यो में तो इस मसले पर सोचने वाले अब रहे नहीं, हाँ, केन्द्र में कुछ लोग हैं, जो इस मसले पर सोचते हैं।"

इन्द्र जी लेटे-ही-लेटे बोले—"प्रभाकर जी, केन्द्र के वे लोग भी कभी-कभी इस मसले पर सोचते ही हैं, पर करते कुछ नही।"

हम स लोग हँस पडे, पर इन्द्र जी पूरी तरह गम्भीर थे। कौन जानता था कि मेरी उनकी यही अन्तिम मुलाकात है।

# पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति से मेरा संपर्क

—डा० रामनाथ वेदालंकार

पूर्व अध्यक्ष, दयानन्द पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय

पंडित श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति संसत्सदस्य भी थे और गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के मुख्याधिष्ठाता भी। बाद में वे इस विश्वविद्यालय के कुलपति कहलाने लगे। संसत्सदस्य होने के कारण वे गुरुकुल में कम रह पाते थे, अधिकतर दिल्ली रहते थे। उनकी अनुपस्थिति में भी संस्था का कार्य सुचारु रूप से चलता रहे इसके लिए उन्होंने पंडित धर्मपाल विद्यालंकार को सहायक मुख्याधिष्ठाता बना लिया था, जो स्वामी श्रद्धानन्द जी के साथ वर्षों तक उनके सचिवरूप मे रह चुके थे तथा जिन्हे स्वामी जी के कातिल अब्दुल रशीद को हत्या के बाद भागने न देने और जब तक पुलिस नही आ गई तब तक दबोचे रखने का श्रेय प्राप्त था तथा गुरुकुल से गहरा प्रेम था। पडित इन्द्रजी जब संसत्सदस्य नही रहे तब उनका अधिकांश समय गुरुकुल मे ही व्यतीत होने लगा।

जब दिल्ली से गुरुकुल आ चुके थे तब एक दिन उन्होने मुझे अपने घर पर बुलाया। कहने लगे "मैंने सुना है कि तुम होम्योपैथी जानते हो और दवा बाँटते भी हो। तुम अधिक बोलते नही हो, चुप रहते हो, जो चुप रहता है वह चिन्तनशील होता है और होम्योपैथिक चिकित्सक के लिए चिन्तनशील होना बहुत आवश्यक है, इसलिए मैं समझता हूँ कि तुम्हारी दवा अवश्य लाभकारी होगी। देखो, दिल्ली मे पहले मैं डाक्टर बेरी से इलाज कराता रहा, मैंने स्वय को उनके सुपुर्द कर रखा था। अब डाक्टर बेरी तो रहे नही, यहाँ मेरे चिकित्सक तुम बनो।" यह सुनकर मैं हतप्रभ रह गया। मैं तो होम्योपैथी का क ख ग भी नही जानता था, फिर इतने बडे व्यक्ति की चिकित्सा का भार कैसे ग्रहण कर लूँ। मैंने अपने अज्ञान के विषय मे निवेदन किया, पर वे नही माने। अन्तत मैंने उन्हे रोग-लक्षण विस्तार से बताने को कहा। सब लक्षण एक कागज पर लिख लिये और कहा कि लक्षणानुसार औषध निश्चय करके कल मैं पुन आपके पास आऊँगा। उनके रोग-लक्षणो मे एक लक्षण सायकाल चार बजे से आठ बजे तक रोग बढने का भी था। तदनुसार मैंने लाइकोपोडियम औषधि निर्धारित की। अगले दिन जब मैं उनके पास पहुँचा तब वे कहने लगे कि आपने क्या औषध सोची है यह आप बाद मे बताना, पहले मैं बताता हूँ। उनके पास होम्योपैथी की एक पुस्तक थी तथा वे अपने प्रयोग के लिए कुछ होम्योपैथिक दवाएँ भी अपने पास रखते थे। उन्होने पुस्तक खोलकर दिखाया कि मुझे लगता है कि

मेरे लिए लाइकोपोडियम दवा ठीक रहेगी। जब उन्हें पता लगा कि मैंने भी यही दवा निर्धारित की है, तब प्रसन्न हुए।

मेरे कहने पर उन्होने जर्मनी की बनी एक हजार शक्ति की लाइकोपोडियम की एक शीशी मँगा ली। उसकी एक खुराक मैंने उन्हे दे दी और एक सप्ताह प्रतीक्षा करने को कहा। उन्हें लाभ होता चला गया और एक सप्ताह में उन्होने स्वय को बहुत स्वस्थ अनुभव किया। पूछने लगे कि अब क्या लेना है? मैंने कहा कि अब मैं आपको दवा का नाम बताये बिना ही एक खुराक दे रहा हूँ, और मैंने बिना दवा वाली खाली गोलियों की एक पुड़िया घर से लाकर उन्हे दे दी। दो दिन बाद मैं उनके पास गया तो कहने लगे कि स्वास्थ्य फिर डगमगा रहा है, मैंने आपकी पुड़िया तो ली नही, मुझे क्योंकि लाइकोपोडियम से लाभ पहुँचा था इसलिए उसी की एक खुराक मैंने दोबारा ले ली थी। मैंने कहा कि मेरे विचार से वह नहीं लेनी चाहिए थी, उसी के लेने से आपका रोग फिर लौट आया है। लाइकोपोडियम एक दीर्घक्रिय औषध है, जो एक खुराक आपको दी थी उसी से महीने भर मे आप बिल्कुल ठीक हो जाते मैंने जो दूसरी खुराक दी थी वह तो खाली गोलियो की थी। मैंने अपनी बात की पुष्टि के लिए उन्हें मैटीरिया मेडिका का लाइको का अध्याय भी पढवाया। कहने लगे अब क्या किया जाए? तब मैंने सल्फर की एक पुड़िया दी तथा कुछ दिन बायोकैमिक दवाएँ भी देता रहा, पर विशेष लाभ नही पहुँचा। शनैः-शनैः उनकी रोग की तीव्रता कम होती गयी और तात्कालिक कष्ट शान्त हो गया। सभवतः उन्होने दिल्ली के प्रसिद्ध होम्योपैथिक चिकित्सक डा युद्धवीर सिंह से भी दवा ली थी।

अब मैं प्राय. प्रतिदिन ही हाल पूछने उनके पास जाता था। एक दिन उन्होंने माता जी के विषय में बताया कि इनकी दाहिनी बाँह ऊपर नही उठती है, यद्यपि यह कष्ट बहुत दिनो से था, पर अब बढ गया है। तब मैंने कुछ बायोकैमिक दवाओ के मिश्रण की बारह खुराकें तीन दिन के लिए दी और गरम पानी में घोलकर प्रतिदिन चार खुराकें लेने को कहा। तीन दिन बाद कहने लगे कि यह तो चमत्कार हो गया, बाँह पर्याप्त ऊपर तक उठने लगी है। यहाँ यह भी बता दूँ कि जब उन्होने मेरा इलाज आरम्भ किया था तब मुझे दक्षिणा भी देनी चाही थी। मेरे बार-बार मना करने पर भी जब वे नही माने तब मैंने इस शर्त पर उनके आशीर्वादस्वरूप वह दक्षिणा ले ली थी कि भविष्य में नही देंगे।

इस प्रकार पडित जी के कुछ निकट पहुँचने का अवसर मुझे होम्योपैथी ने दिलाया। इससे पूर्व कभी विशेष वार्तालाप का सयोग नही मिला था। मैं स्वभाव से सकोची था, अत अब भी उनसे कोई प्रगाढ़ता हो गई हो, ऐसा नही था।

अगली बात उन दिनो की है जब पंडित बुद्धदेव विद्यालंकार आचार्य बन चुके थे। श्रद्धानन्द-सप्ताह पर कुलसभा मे मुख्याधिष्ठाता पंडित इन्द्रजी और आचार्य पडित बुद्धदेव जी दोनो अध्यक्ष के आसनो पर विराजमान थे। उन दिनो 'आजकल' नामक एक

हस्तलिखित पत्रिका महाविद्यालय के छात्र निकालते थे। उसके श्रद्धानन्द-बलिदान-अंक में मेरा एक प्रहसनात्मक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसका शीर्षक था 'वेद में श्रद्धानन्द'। उसमें मैंने ऋग्वेद के श्रद्धासूक्त के आधार पर वेद में स्वामी श्रद्धानन्द का इतिहास दर्शाया था तथा यह भी लिखा था कि श्रद्धासूक्त से अगला ही सूक्त इन्द्र-विषयक होना भी साभिप्राय है, क्योंकि उसमें स्वामी श्रद्धानन्द के सुपुत्र पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति का गुरुकुल के शासक होने का वर्णन है। यह भी लिखा था कि वेद में इन्द्र के घोड़े 'हरि' हैं इसका कारण भी समझ में आ जाता है, वह यह कि बचपन में इन्द्रजी अपने बड़े भाई हरिश्चन्द्र को घोड़ा बनाकर उन पर सवार होते होंगे। इस व्यंग के द्वारा अन्त में मैंने यह सिद्ध किया था कि वेदों में इतिहास का अनुसंधान करने वाले विद्वान् इसी श्रेणी में आते हैं। जैसे वेद में स्वामी श्रद्धानन्द के परिवार का यह इतिहास खोजना उपहासास्पद है, वैसे ही ऐतिहासिक सम्प्रदाय द्वारा वेदों पर आरोपित अन्य इतिहास भी हास्यास्पद ही ठहरते हैं। पत्रिका के सम्पादक ने मुझसे बिना ही पूछे कुलसभा में मेरा वह लेख पढ़ना आरम्भ कर दिया। मेरा लेख पढा जा रहा था और मैं पसीना-पसीना हुए जा रहा था। सोचता था कि आज मुख्याधिष्ठाता जी और आचार्य जी दोनों का ही कोपभाजन मुझे बनना पड़ेगा। यह तो अपने से बडों पर कीचड उछालना समझा जाएगा। जब सभा समाप्त हुई तब पंडित बुद्धदेव जी ने तो मुझे छाती से चिपटा लिया और कहा कि वेद के ऐतिहासिक सम्प्रदाय पर कैसी करारी चोट तुमने की है। पंडित इन्द्रजी ने मुस्कराते हुए इतना ही कहा कि वेद में तुम्हारी अच्छी पैठ है यह तो मालूम था, पर तुम जैसे गंभीर व्यक्ति में हास्यरस का पुट भी है यह आज ही पता चला।

बहुत समय पश्चात् की बात है। एक दिन पंडित इन्द्रजी के सेवक ने आकर कहा कि पंडित जी आपको याद कर रहे हैं। मैं पहुँचा तो कहने लगे—"देखो, पंडित वागीश्वरजी सेवानिवृत्त होने वाले हैं। उनके पास दो महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, एक तो संस्कृत विभाग का और दूसरा प्रस्तोता (रजिस्ट्रार) का। मैंने उनसे पूछा था कि आपके बाद इन कार्यों को कौन संभालेगा। उन्होंने बड़े विश्वास के साथ तुम्हारा नाम लिया है और कहा है कि इन दोनों ही कार्यों को तुम योग्यतापूर्वक कर लोगे। मैं तुम्हें जानता तो हूँ, पर उतना नहीं जितना पंडित वागीश्वरजी जानते हैं। मैं समझता हूँ कि उन्होंने तुम्हें ठीक ही परखा होगा। अब तुम उक्त दोनों कार्यों को करने के लिए उद्यत हो जाओ। संस्कृत-विभाग के प्राध्यापक पद के लिए तुम एक आवेदन-पत्र दे दो, जिससे साक्षात्कार में तुम्हें बुलाया जा सके। और, प्रस्तोता के लिए यह आवश्यक है कि वह शिक्षाविशेषज्ञ हो, अतः विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग द्वारा प्रकाशित संस्कृत-कमीशन की विशाल रिपोर्ट मंगाकर तुम पढ डालो।"

आचार्य पंडित प्रियव्रत वेदवाचस्पति का यह परामर्श था कि मैं वेदविभाग को न छोड़ूँ। उनका कहना था कि वेद में तुम्हारी रुचि है, सूझ-बूझ भी है, वेद में तुम कुछ देन दे सकते हो, उससे आर्यसमाज को भी लाभ होगा। मैंने भी उनसे सहमति व्यक्त की कि

आदेश होगा तो विवशता है, अन्यथा मैं स्वयं भी वेदविभाग में ही रहना चाहता हूँ। संस्कृत के प्राध्यापक पद के लिए साक्षात्कार हुआ, उसमें भी मैंने कह दिया कि मुझे वेदविभाग में ही रहने दीजिए। फिर भी संस्कृत-विभाग के लिए मुझे ही चुना गया। आचार्य प्रियव्रतजी ने अपना आशीर्वाद दिया कि तुम संस्कृत-विभाग में आ गये हो, ठीक है, पर वेद का कार्य मत छोड़ना।

अजातशत्रु पंडित वागीश्वरजी विद्यालंकार अभी सेवानिवृत्त नहीं हुए थे। उन्हे दो वर्ष और दे दिये गये थे। इस बीच मे उपप्रस्तोता बना दिया गया तथा संस्कृत के प्राध्यापक का कार्य भी करता रहा। उस समय परीक्षको को प्रश्नपत्रनिर्माण एव उत्तर-पुस्तकों के मूल्यांकन का कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाता था, वे सेवाभाव से ही कार्य करते थे। कुछ परीक्षको के प्रश्नपत्रो मे सशोधन की भी आवश्यकता होती थी। कुछ परीक्षक विकल्प सर्वथा नही देते थे, उनके प्रश्नपत्रो में वैकल्पिक प्रश्न बढाने होते थे। पंडित वागीश्वरजी ने यह सब गोपनीय कार्य मुझे विश्वासपूर्वक सौंपे रखा। उनके सेवा-निवृत्त हो जाने के पश्चात् प्रस्तोता एव संस्कृत-विभाग का कार्यभार पूर्णत: मुझ पर आ गया।

प्रस्तोता बन जाने के पश्चात् कुलपति पंण्डित इन्द्रजी से सपर्क अधिक रहने लगा। कई नीतिसम्बन्धी बातें होती थी जिनमे पण्डित जी का परामर्श एव आदेश अपेक्षित होता था। गुरुकुल मे कक्षाएँ केवल अलकार तक ही थी। वाचस्पति का पाठ्यक्रम यद्यपि बना हुआ था, तथापि उसके अध्यापन की व्यवस्था नही थी, न ही कोई छात्र इस परीक्षा को देते थे। तब तक गुरुकुल मे एम० ए० की कक्षाएँ नही चली थी। वाचस्पति का पाठ्यक्रम एम०ए० से पर्याप्त उच्चस्तर का था। यह कहना भी अतिशयोक्ति नही होगी कि वह डॉक्टरेट के निकट था। पडितजी वाचस्पति परीक्षाएँ चालू करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने मुझे प्रेरित किया और चार परीक्षार्थी भी तैयार कर लिये। इनमे दो छात्र थे और दो छात्राएँ। एक छात्र और एक छात्रा ने इतिहास-वाचस्पति के लिए, एक छात्रा ने वेदवाचस्पति के लिए तथा एक छात्र ने हिन्दी साहित्य के वाचस्पति के लिए प्रवेश पत्र भरा। पडित इन्द्रजी ने मुझे तथा पडित हरिदत्तजी को कहा कि तुम दो मास के दीर्घावकाश मे इन्हें पढाओ। प्रस्तोता होने के नाते मुझे प्रश्नपत्र बनवाने तथा परीक्षा लेने का भी निर्देश दिया। इस प्रकार उस वर्ष के वार्षिकोत्सव पर चार छात्र-छात्राओ को वाचस्पति उपाधि प्रदान की गयी।

उसके पश्चात् सरकार से गुरुकुल को विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त होने पर आठ विषयों मे एम०ए० कक्षाएँ खुल गयी। एम०ए० कक्षाओ के पाठ्यक्रम तैयार कराना, पाठ्यक्रम छपवाना, विभागों में नवीन नियुक्तियाँ होना आदि सब कार्य उस समय मेरे ही प्रस्तोता-काल में हुए। बाद में प्रस्तोता (रजिस्ट्रार) का पद स्वतन्त्र कर दिया गया तथा उसे प्रस्तोता के स्थान पर कुलसचिव कहा जाने लगा। पडित इन्द्र विद्यावाचस्पति तब तक गुरुकुल छोड़कर जा चुके थे। गुरुकुल मे कभी-कभी आकर निवास करने के लिए उन्होने

अपने लिए गुरुकुल से लगी अपनी भूमि में एक पृथक् पर्णकुटी बनवा ली थी। उनका आशीर्वाद उनके गुरुकुल से चले जाने के पश्चात् भी मुझे प्राप्त होता रहा। लेखन-कार्य के सम्बन्ध मे वे कहा करते थे कि मैं कोई लेख, ग्रन्थ आदि लिखकर उसे तुरन्त प्रकाशित नही करा देता, पाँच-छह महीने रखे रहने देता हूँ। पुनरवलोकन करने पर प्रायः उसमे बहुत कुछ परिष्कार करने की आवश्यकता अनुभव होती है। परिष्कार के पश्चात् उसमें पूर्णता आती है तब मैं उसे प्रकाशनयोग्य मानता हूँ। ऐसा ही अन्यों को भी करने का परामर्श देते थे। यह भी कहते थे कि जो अपना क्षेत्र नहीं है, व्यर्थ ही उसमें कूदना नहीं चाहिए। अपना दृष्टान्त देते थे कि मेरे पास १०० से अधिक गीत लिखे रखे हैं, पर मैं समझता हूँ कि वह मेरा क्षेत्र नही है, इसलिए उन्हें छपवाने का प्रयास मैंने कभी नहीं किया।

एक दिन अकस्मात् मुख्याधिष्ठाता पंडित धर्मपाल जी विद्यालंकार रात्रि में दौड़े-दौड़े मेरे मकान पर आये और द्वार खटखटा कर घबराहट-भरे स्वर मे बोले—अभी फोन आया है, पंडित इन्द्रजी का देहावसान हो गया है। अभी 'बस' दिल्ली जाएगी, आप चलोगे? मैने कहा—उस देवता के अन्तिम दर्शन करने क्यों नही चलूँगा। बहुत से गुरुकुलवासी दिल्ली गये। पंडित इन्द्रजी के जीवन का पटाक्षेप हो चुका था। पिता श्रद्धानन्द से विरासत में मिली भव्य काया, प्राचीन शास्त्रों का परम वैदुष्य, इतिहास-लेखन की नवीन शैली, पत्रकारिता-कला की प्रवीणता, आर्यसमाज-प्रेम, गुरुकुलशिक्षा प्रणाली के प्रति अगाध आस्था, गुरुकुल कांगड़ी को संसार-भर मे अनुपम विश्वविद्यालय बना देने की चिर अभिलाषा, प्रगाढ आशावादिता, जर्जर स्वास्थ्य मे भी कुछ उपयोगी कार्य कर जाने की अदम्य लालसा, सब चिता मे धू:धू करके जल रहे थे। उस अथक् समाजसेवी, उदारमना, तपस्वी, परमर्षि पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति को मेरे श्रद्धासुमन अर्पित हैं।

वेदमन्दिर, ज्वालापुर (हरिद्वार)

# प्रातःस्मरणीय—पंडित इंद्र विद्यावाचस्पति

—डा० गंगाराम गर्ग
भू०पू० कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के सुपुत्र होने के नाते समाज में प० इन्द्र जी का विशेष सम्मान था। पर इन्द्र जी यदि स्वामी जी के पुत्र न भी होते तो भी उनका व्यक्तित्व इतना महान था कि वे अपने लिये शीर्षस्थ स्थान अर्जित कर लेते। वे सस्कृत के कवि थे, उपनिषदो के भाष्यकार थे, वेदों के मर्मज्ञ थे, इतिहासकार थे, हिन्दी के उपन्यासकार थे और साहित्य की अनेक विधाओं में उनका प्रवेश था। उन्होंने आर्यसमाज के इतिहास की रचना भी की। उनकी लेखनी सतत् चलती रहती थी। स्वतन्त्रता-सग्राम के वे कर्मठ कार्यकर्ता थे और उनमें नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता थी। वे समाजसुधारक थे और कुशल प्रबन्धक भी। उनकी प्रतिभा के अनेक आयाम थे। आज से ३८ वर्ष पूर्व अर्थात् सन् १९५२ मे जब मैंने गुरुकुलसेवा में प्रवेश किया, तो उस समय पडित जी गुरुकुल के कुलपति थे। मुझे अपने लम्बे गुरुकुल सेवाकाल में सात कुलपतियो के साथ कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और कुछ समय मै स्वय भी इस पद पर रहा हूँ, पर मै यह विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि समग्र रूप से यदि देखा जाये तो पडित इन्द्रजी सभी कुलपतियों मे 'इन्द्र' थे। इन्द्र जी के स्वर्गवास पर 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' ने जो 'इन्द्र विशेषांक' निकाला था, उस पर उनका चित्र छपा था। उस चित्र को गुरुकुल छात्रावास मे ब्रह्मचारियो ने अपने-अपने कमरों मे सजाया हुआ था। मेरे पुत्रों ने भी उस चित्र को फ्रेम देकर अपने यहाँ लगवाया था। वस्तुत इन्द्रजी सभी के प्रिय थे, चाहे वे छात्र हों या उपाध्याय। मैने कभी भी उनके समय मे हड़ताल होते नही देखी और न ही उनके विरुद्ध प्रदर्शन। उनकी भव्य आकृति, उनकी विलक्षण प्रतिभा और उनका सद्व्यवहार सभी को अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। अन्य कुलपतियों पर ये आरोप लगते रहे—चाहे वे गलत हो या सही—कि वे अपनी जाति के या क्षेत्र के लोगों को नियुक्त करते हैं, पर इन्द्र जी इन सब बातो से कोसो दूर थे। उनके धवल चरित्र पर ऐसा किसी ने कोई दाग नही लगाया।

सन् १९५३ से ही मैने गुरुकुल के ब्रह्मचारियो द्वारा अंग्रेजी नाटको का अभिनय करवाना प्रारम्भ करवा दिया था। शेक्सपियर के तथा अन्य नाटकों का मंचन किया गया जो अत्यन्त सफल रहा। एक बार पारितोषिक समारोह मे पडित इन्द्रजी को आमंत्रित किया गया। उस समय इन्द्रजी ने अभिनय के सम्बन्ध में जो

शब्द कहे, वे मुझे ३५ वर्ष बाद आज भी याद हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पंडितजी ने भारत के नाट्यशास्त्र का गहन अध्ययन ही नहीं किया था बल्कि उसके क्रियात्मक पक्ष पर भी चिंतन किया था। उन्होंने कहा कि पुस्तक में जो भी शब्द होते हैं, चाहे वे प्रेम के हों, वीर रस के हों या वियोग के, वे एक ही स्याही में और एक ही टाइप के छपे होते हैं। जब भी किसी भाव का पुस्तक में उल्लेख हो तो कलाकार को यह देखना होता है कि उसकी वाणी तथा उसके हाव-भाव द्वारा उक्त भाव का प्रदर्शन भी हो। उच्च कलाकार अपने को उसी परिस्थिति मे ढाल लेता है। यही अभिनयकला का मूलमंत्र है। यही बीज है।

पंडित जी आडंबर के विरोधी थे और स्वच्छता एवं सादगी पसन्द करते थे। एक बार प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर अपने नाटकों का मंचन करने के लिये हरिद्वार पधारे। पंडित जी ने उन्हें गुरुकुल मे आमन्त्रित किया। सध्या का समय था। आम्रवृक्ष के नीचे एक मेज लगा दी गई। उस पर एक कपड़ा बिछा दिया गया। दो कुर्सी लगाई। एक पर इन्द्रजी आसीन थे और दूसरी पर पृथ्वीराज जी कपूर। घास पर बिछी दरियों पर छात्र गण और कुलवासी बैठे थे। इंद्रजी ने स्वागत किया और माननीय अतिथि का भाषण हुआ। न कोई शामियाना, न कोई माइक और न कोई पुष्पमाला। टैगोर की शांतिनिकेतन का-सा दृश्य था। इस सादगी को देखकर पृथ्वीराज जी अत्यन्त प्रभावित हुए। गुरुकुल में सादगी को प्राथमिकता मिलनी चाहिये न कि आडंबर को। मैंने पृथ्वीराज जी कपूर रचित "पैसा" नाटक भी देखा। नाटक की समाप्ति पर पृथ्वीराज जी अपनी झोली पसारकर द्वार पर खड़े हो जाते थे। सभी दे देते थे। मैंने भी ५ रु० दिये। आजकल ५ रु० अच्छी राशि नही मानी जाती पर उन दिनों जब एक उपाध्याय को १५० रुपये मिलता हो और चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी का वेतन ४० रु० हो, ५ रु० की राशि कम नही थी।

गुरुकुल मे बसंतपचमी का उत्सव खुले आकाश के नीचे प्रकृति के स्वच्छद वातावरण मे मनाया जाता था। कोई स्थान निश्चित नहीं था। कभी पुष्पभूमि पर होता था, कभी नीलधारा के इस ओर बड़ीघाट के नीचे और कभी हरकी पैड़ी के सामने भागीरथी के किनारे। भोजन से पूर्व खेल होते थे। छात्र और उपाध्याय सभी मिलकर कबड्डी खेलते थे। भोजन के उपरात एक गोष्ठी होती थी, जिसमें ब्रह्मचारी और उपाध्याय अपना कवितापाठ करते थे। मुझे स्मरण है कि एक ब्रह्मचारी ने अपनी कविता मे ऐसा कुछ कहा कि भोजन में रायता कभी समाप्त नही होगा क्योंकि रायते को गगामैया का वरदान प्राप्त है। उसका आशय यह था कि जब भी रायता कम पड़ता था उसमे गगाजल डाल दिया जाता था। एक गोष्ठी में पडित इन्द्रजी ने कहा कि 'गुरुकुल पत्रिका' को संस्कृत की ही पत्रिका बनाया जाये। पहले यह पूर्णतया हिन्दी की ही होती थी। कुछ समय तक यह देववाणी में ही निकलती रही। बाद मे हिन्दी और संस्कृत मे। तब से लेकर सस्कृत का भाग इसका अभिन्न अंग बना हुआ है।

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की शताब्दी १६५६–५७ में मनाई गई। इस अवसर पर एक भव्य जलूस भी पचपुरी मे निकाला गया। पृष्ठभूमि में भी समारोह हुए। भोज भी हुए। स्वामी श्रद्धानन्द जी के समय में महात्मा गांधी गुरुकुल पधारे थे। पडित इन्द्रजी ने इस घटना का एक फीचर-सा बनाकर अंग्रेजी मे मुझे लिखने के लिये कहा। मैंने इस दृश्य को बडी भावुकता से प्रस्तुत किया जिस समय महात्मा गाधी ने स्वामी जी के चरण स्पर्श किये थे। फीचर भेजने से पूर्व इन्द्रजी ने उन्हे दिखाने के लिए कहा था। जब मैं उन्हें दिखाने गया तो उनके मुख से 'एक्सेलण्ट' का शब्द निकल गया। फीचर 'ट्रिब्यून' नामक पत्र में प्रकाशित हुआ था जिसे देखकर इन्द्रजी अत्यन्त प्रसन्न हुए।

एक बात जो पडित जी को चिन्तित करती रहती थी, वह थी गुरुकुल में छात्रों की कम संख्या। इसके लिये उन्होने कुछ प्रयत्न भी किये। उन्ही के प्रयत्नो से गुरुकुल में 'ग्राम्य प्रशिक्षण केन्द्र' खुला। पहले तो इसके उपाध्यायों और छात्रो का गुरुकुल से निकट का सम्बन्ध रहा पर धीरे-धीरे इसने अपना पृथक स्वरूप धारण कर लिया। इन्द्रजी ने अलग से 'विज्ञान इण्टर कालिज' भी खोला पर इसके विद्यार्थियो की संख्या गुरुकुल मे नही दिखाई जा सकती थी क्योकि यह यू०पी० बोर्ड से सबद्ध था। ये दोनो सस्थाएँ अब भी चल रही हैं। इनमे से दूसरे का तो इस समय मैं प्रधान हूँ। एक विज्ञान महाविद्यालय भी खोला गया। पहले यह मेरठ विश्वविद्यालय से सम्बद्ध था, पर बडी कठिनाई से गुरुकुल मे ले लिया गया। इसमे सख्या पर्याप्त है। आयुर्वेद महाविद्यालय पहले गुरुकुल का अंग-भूत महाविद्यालय था, पर अब उत्तर प्रदेश सरकार ने अपने अधिकार मे ले लिया है। प्रयत्न होना चाहिये कि यह पूर्ववत् गुरुकुल विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हो जाये। इसमे छात्रो की सख्या पर्याप्त है। यह संख्या और भी बढ सकती है। वस्तुत. आजकल टेक्निकल विषयो की मांग है और गुरुकुल को ऐसे ही पाठ्यक्रम चलाने चाहियें। इस बीच यू०जी०सी० ने एक आदेश निकाला कि वही सस्थाएँ अपनी उपाधियाँ प्रदान कर सकेंगी जिन्हे यू०जी०सी० ने मान्यता प्रदान कर दी हो। पंडित इन्द्रजी ने सोचा कि यदि गुरुकुल को मान्यता मिल जाये तो इससे गुरुकुल की आर्थिक समस्या हल हो जायेगी और छात्रो की संख्या भी बढ़ जायेगी। इस सम्बन्ध मे वे तत्कालीन यू०जी०सी के चेयरमैन से भी मिले थे। उनके जीवनकाल मे तो गुरुकुल को मान्यता न मिल सकी पर बीज उन्ही का डाला हुआ था।

२३ जुलाई १६६० को पडित इन्द्रजी की गुरुकुल से विदाई की गई। उन्हे गुरुकुल से विदा होना अच्छा नही लग रहा था। वे विदाई लेने के पक्ष मे नही थे। वे बार-बार यह अनुभव करते थे कि उनके पिता स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल स्थापित किया और सब कुछ गुरुकुल को अर्पण कर दिया और स्वय उन्होने भी लगभग २० वर्षों तक गुरुकुल की सेवा की। वे गुरुकुल की और अधिक सेवा करना चाहते थे पर कम-से-कम विदाई तो नही चाहते थे। पर विधाता को और ही कुछ स्वीकार था। उनसे त्यागपत्र लिया गया और उनकी विदाई कर दी गई। इसका उनके हृदय पर घातक प्रभाव पडा। २३ जुलाई को उनकी विदाई हुई और २३ अगस्त को ठीक एक मास बाद उनका देहान्त हो गया।

यह भी उल्लेखनीय है कि २३ दिसम्बर को ही स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान हुआ था। इस बीच इन्द्रजी ने गुरुकुल-क्रीड़ास्थल के समीप भूमि क्रय कर ली और एक कुटिया बनाई थी ताकि समय-समय पर आकर वे इसमे रह सकें। पर वे केवल उसे एक बार ही पवित्र कर सके।

२४ अगस्त को प्रातः हमे गुरुकुल में सूचना मिली कि पंडित इन्द्रजी का दिल्ली में स्वर्गवास हो गया है। सपूर्ण गुरुकुल स्तब्ध रह गया। एक पुण्यात्मा का विछोह किसको झकझोर नहीं कर देगा। एक पूरी बस गुरुकुल से चली और हम दिल्ली पहुँच गये। उनके निवास-स्थान 'इन्द्रलोक' से एक बड़ी शोभायात्रा निकली जिसमे उन संस्थाओं के महानुभाव अपने-अपने ध्वज लिये हुए थे जिनका सम्बन्ध इन्द्रजी से रहा था। जलूस को श्मशान भूमि तक पहुँचने मे कई घण्टे लगे। चिता पर रखने से पूर्व उनके पावन शरीर को अन्तिम श्रद्धांजलि देने के लिये एक स्वच्छ स्थान पर रखा गया था। लोग पुष्पवर्षा कर रहे थे। एक फूल उनकी नाक के पास इस प्रकार से गिरा कि वहाँ पड़ा अखर रहा था। पंडित इन्द्रजी की पत्नी जिन्हें हम इन्द्राणी कहते थे, उठीं और उस फूल को वहाँ से अलग कर दिया। पावन वैदिक ऋचाओ के उच्चारण के बीच घृत की असख्य आहुतियों को प्राप्त कर अग्नि अपने यौवन को प्राप्त हुई और धधकने लगी। वह अपनी लपटो में एक महापुरुष को लपेटने मे गौरव का अनुभव कर रही थी और अपने आपको धन्य मान रही थी। इन्द्राणीजी यह दृश्य न देख सकी और उन्होने अपना मुख पीछे की ओर कर लिया।

साहित्य, धर्म तथा समाज मे पडित जी के योगदान पर अनेक लेख लिखे गये। पत्रिकाओ के विशेषाक भी निकले। उन्होने हिन्दी-साहित्य और सस्कृत-साहित्य मे जो योगदान किया उसका उल्लेख मेरे 'Encyclopaedia of World Hindi Literature' और 'International Encyclopaedia of Indian Literature' मे हुआ है। ऐसे महान मानव को हमारा कोटिशः नमस्कार। आने वाले युग याद करेंगे कि हमने इन्द्रजी को देखा था।

---

शील और प्रज्ञा के धनी

# पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति

डा॰ धर्मपाल आर्य
प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

एक आदर्श पत्रकार, तपे हुए राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता, सुविज्ञ इतिहासकार, लेखक, साहित्यकार, समाजसेवी, जननेता और शिक्षाशास्त्री, शील और प्रज्ञा के धनी पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति का जीवन और कार्य, मानवकल्याण के लिए समर्पित राष्ट्रसेवियों के लिए सदैव आलोकस्तम्भ का कार्य करेगा। उस मनीषी ने दिल्ली-नगरी में हिन्दी पत्रकारिता को पल्लवित करके, इसे राष्ट्र और जनता की सेवा का निमित्त बनाया। वह एक निस्पृह, ईमानदार और कर्मठ पत्रकार के रूप में, राष्ट्रसेवा के प्रशस्तपथ पर उच्चादर्शों एवं विचारों का वितान प्रसारित करता हुआ, किसी भी बाधा से घबराए बिना सदैव आगे बढ़ता रहता। आंग्लमनीषी मैथ्यू आर्नल्ड ने संस्कृति की परिभाषा देते हुए माधुर्य और प्रकाश नामक दो उपादानो की चर्चा की है। ये दोनो उपदान उनके जीवन मे प्रतिफलित हुए। उनके सान्निध्य में रहने वालो ने सदैव पाया कि पंडितजी के जीवन की अमृतवाटिका सदैव माधुर्य और प्रकाश से, शील और प्रज्ञा से महकती रहती थी। संस्कृति का अर्थवाहक शील है। यह आर्य-गुण उनकी विशिष्टता थी।

पंडित जी का सम्बन्ध अनेक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं से था और यह स्वाभाविक ही है कि इस प्रकार की सस्थाओ मे वाद-विवादो, विक्षोभों और उग्रचर्चाओं के झंझावात भी आते रहते हैं, परन्तु पंडित जी इन सभी प्रकार की संस्थाओ के कर्त्ताधर्त्ता होते हुए भी, इस प्रकार के झंझावातों से कभी भी विचलित न होते थे। ऐसे अवसरों पर उनकी स्थिरप्रज्ञता, धीरता, गंभीरता और सौम्यता दर्शनीय, स्पृहणीय एवं अभिनन्दनीय होती थी। पंडितजी इन अवसरों पर विषम परिस्थितियों तथा आवश्यकताओ का गंभीर विश्लेषण, विवेचन करने के पश्चात् ऐसा तर्कसम्मत समाधान प्रस्तुत करते थे कि लोग चकित रह जाते थे। उनका गंभीर स्वर सभी को प्रभावित करता था तथा उनका निर्णय सर्वमान्य होता था। वे अपने विषय को तर्कसगत, शृखलाबद्ध एवं चुस्त शैली मे बहुत ही सक्षेप मे प्रस्तुत करते थे। उनकी सुसाध्य संक्षिप्तता एक विशिष्ट प्रभाव छोड़ती थी। कहते हैं कि जिस बात को प० बुद्धदेव विद्यालकार दो घण्टे के भाषण मे सरल, सगीतमय शैली में प्रस्तुत करते थे, उसे प० इन्द्र विद्यावाचस्पति मात्र दस मिनट में अपनी मितभाषिणी परन्तु प्रभावी शैली में, सपाट गद्य में पस्तुत कर देते थे।

पंडित जी का जीवन बहुत ही सादा एवं नियमित था। बचपन मे निमोनिया के आक्रमणो एवं प्लूरिसी के कारण उनका एक फेफड़ा खराब हो गया था। इसी नियमबद्धता का परिणाम था कि वे अपने जीवन के अन्तिम क्षणो तक कार्यक्षम बने रहे। नियमित खान-पान और औषधिसेवन आदि के विषय मे वे कठोर रूप से नियमित एव संयत थे। ब्राह्ममुहूर्त्त में उठ जाया करते थे। नित्य-कर्म से निवृत्त होकर वे प्रात.कालीन शान्ति वातावरण मे ही स्वाध्याय एव लेखन का कार्य करते थे। प्रात.कालीन भ्रमण उन्हे विशेष प्रिय था। वे सामान्यत प्रकृति की गोद मे उस समय होते थे, जब पूर्व दिशा मे उषा की लाली अद्भुत छटा बिखेर रही होती थी।

उनका लेखन आज के पत्रकारो के लिए एक आदर्श है। उनका लेखन व्यवसाय नही था। उनका लेखन तो समाजसेवा और राष्ट्रसेवा का ही एक अ ग था। उनका लेखन उनका कर्त्तव्य था। उनका लेखन उनका धर्म था। उनके अपने समय के अग्रलेख आज भी कितने प्रासगिक हैं, यह एक सयोग ही कहा जाएगा। इसे हम इस प्रकार भी प्रस्तुत कर सकते हैं कि समस्याएँ शाश्वत हैं, उनके पात्र बदल जाते हैं। इतिहास अपने को दोहराता है। उनका एक अग्रलेख वीर अर्जुन के १६ जुलाई १६४८ के अंक मे प्रकाशित हुआ था–"किसी भी शासनव्यवस्था की सफलता की मुख्य कसौटी यह है कि उसमे प्रजा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करे, उसे चोरो और डाकुओ का भय न हो, लोग दुर्भिक्ष और बीमारी जैसी आपत्तियों से बचे रहे, और उन्नति कर सके। यह राज्य का मुख्य कर्त्तव्य है और यही उत्तम राज्य का चिन्ह है। यदि यह है तो सब कुछ है, यदि यह नही तो शेष सब दिखावा है।" जो उस समय पडित जी ने कहा था क्या वह सब आज भी प्रासगिक नही है? क्या आज जनता सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रही है? क्या आतक, भय, दुर्भिक्ष एव बीमारियों जैसी आपदाएँ आज भी नही हैं? हम स्वतन्त्र अवश्य है, पर हम स्वतन्त्र से अधिक स्वच्छंद हैं। दुष्टो और आततायियो से कैसे व्यवहार करे, इस सम्बन्ध मे भी पडित जी ने १३ अप्रैल १६४८ के वीर अर्जुन मे लिखा था– 'उत्कृष्ट और वीरतापूर्ण नीति का नियम है कि बाहर और अन्दर के शत्रुओ का डटकर मुकाबला किया जाए, ताकि वह पहले तो सिर उठाने का साहस ही न कर सकें और यदि साहस करें तो उसे कुचल कर रख दिया जाए। इस प्रकार शत्रुओ के प्रति भयकर होने पर भी यह नीति अपने हितैषियो और आश्रितो के लिए उदार और सहिष्णु होनी चाहिए।···हमारे सामने अनेक मुसीबतें हैं। इन परिस्थितियो को सभालने के लिए और राष्ट्र को इन मुसीबतो की महानदी से पार उतारने के लिए आवश्यक है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार वीर नीति का अवलबन करे। ऐसे कठिन समय मे दब्बू नीति से काम न चलेगा। शत्रुओ से नरमी और हितैषियों पर सख्ती, यह कायरता तो है ही, अदूरदर्शिता भी। वीरता और उदारता का तकाजा यह है कि शत्रुओ के लिए धनुष पर सदा तीर चढ़ा रहे, और प्रजा पर पिता की-सी उदार वृत्ति रहे।" इन कथनो को आज भी क्रियान्वित करने की आवश्यकता है।

इतिहास के ग्रन्थो एवं महापुरुषो की जीवनकथाओ को पढ़ने का उन्हें बड़ा शौक था। वास्तव मे वे इनसे प्रेरणा एव ऊर्जा ग्रहण करते थे तथा चाहते थे कि हमारे देशवासी भी इन महान ऐतिहासिक घटनाओ तथा महापुरुषो के चरितों से प्रेरणा लें। जो जाति अपने इतिहास को भूल जाती है, वह मृत होती है। उसमे प्राणसचार के लिए उन्होने 'मुगल साम्राज्य का क्षय और कारण', 'स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा', 'भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त', 'भारत के स्वाधीनता सग्राम का इतिहास' आदि कई इतिहास एव राजनीति पर आधारित ग्रन्थो का प्रणयन किया। उन्होने अनेक जीवनीपरक ग्रन्थ भी लिखे—'नेपोलियन बोनापार्ट की जीवनी', 'प्रिंस बिस्मार्क', 'गैरीबाल्डी', 'महर्षि दयानन्द का जीवनचरित', 'प० जवाहरलाल नेहरू', 'सम्राट रघु', 'मेरे पिता', 'हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति', 'लोकमान्य तिलक' आदि रचनाएँ पाठक के मनमस्तिष्क को उद्वेलित करती हैं और प्रेरणा देती हैं कि वह भी इन महापुरुषो जैसा बनने का प्रयास करे।

पडित जी की शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल के स्वाधीनता, स्वदेशप्रेम व स्वसस्कृति प्रेम के वातावरण मे हुई थी। यही कारण था कि वे कही भी रहे, सदैव इन्ही आदर्शों के लिए प्रयत्नशील रहे। प० जी का आदर्श था–'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे, न दैन्यम् न पलायनम्'। इसी आदर्शवाक्य को लेकर उन्होने निर्भीक पत्रकारिता को आगे बढाया। वे राष्ट्र और समाज के लिए सदैव चिन्तित रहते थे। एक बार उन्हाने कहा था, 'मेरे गिरने का तो समय आ गया है, पर मैं चाहता हूँ कि मेरा देश न गिरे, मेरी सन्तति न गिरे और उस दिशा मे आगे बढने वाले आप लोग न गिरें।' ऐसे बलिपथियो का उत्सर्ग कभी व्यर्थ न जाएगा। जो लोग इन उदात्त आदर्शों को लेकर आगे बढ़ेगे, जो राष्ट्र, समाज और दूसरो के लिए अपने आपको उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहेगे, उन महान विभूतियो का सदैव स्मरण किया जाएगा।'

पडित जी ने गुरुकुल कागडी की आजीवन, निष्ठापूर्वक सेवा की। वे इस सस्था की उन्नति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। यही से वे १९१२ मे स्नातक बने। तभी उन्होने व्रत लिया था—मैं शक्तिभर स्वधर्म और स्वदेश की सेवा मे अपना जीवन लगाऊँगा। परमात्मा ने उन्हें बुद्धिबल दिया, साहस दिया और कर्त्तव्यपूर्ण निष्ठा दी। वे सारा जीवन अपने व्रत का पालन करते रहे। गुरुकुल कागडी के लिए तो सदैव समर्पित रहे। उनके नेतृत्व मे गुरुकुल ने चहुँमुखी प्रगति की। यहाँ पर अनेक नए-नए विभाग खुले जिनमे प्राचीन ज्ञान के साथ नवीन तकनीकी ज्ञान का भी समन्वय किया गया। यहाँ पर विज्ञान, कृषि तथा अभियान्त्रिकी जैसे विषयो को पढाने की भी व्यवस्था की गयी। १९५८ मे प० जवाहरलाल नेहरू ने गुरुकुल कागड़ी के विज्ञान भवन का उद्घाटन किया। उस समय उन्होने कहा था—'मुझे अपनी प्राचीन सभ्यता पर गर्व है। यह अच्छी और महान दोनो है। यह प्रेरणादायक है। आर्थिक और राजनीति तरक्की के लिए जरूरी है कि हम वैज्ञानिक तरीके अपनाएँ और अपने कार्य मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखे। आज की वैज्ञानिक सस्कृति और पुरानी सस्कृति दोनो मे मेल होना आवश्यक है।' प० इन्द्र विद्यावाचस्पति

ने इस दिशा में यथाशक्ति प्रयास किया और वे अपने उद्देश्यों में सफल हुए। पंडित जी की कृपा से गुरुकुल कांगड़ी में अनेक राष्ट्रीय नेताओं का आगमन हुआ।

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति का जन्म ९ नवम्बर १८८९ को जालंधर में हुआ था और उनका निधन २३ अगस्त १९६० को दिल्ली में हुआ। इस जीवनयात्रा में उन्होंने अनेक उतार-चढाव देखे। गुरुकुल कांगड़ी की तो उन्होंने अनेक रूपों में सेवा की—अध्यापक, मुख्याधिष्ठाता और कुलपति। इसके अतिरिक्त वे दिल्ली स्वदेशी सघ के प्रधान, सार्वदेशिक सभा के मन्त्री, अस्पृश्यता निवारण लीग के महामन्त्री, जिला व प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी दिल्ली के प्रधान, दिल्ली कांग्रेस कन्वेशन के स्वागताध्यक्ष, राष्ट्रभाषा सुरक्षा परिषद् के स्वागताध्यक्ष, अखिल भारतीय पत्रकार सघ के प्रधान, अखिल भारतीय संस्कृति सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष, सघ लोक सेवा आयोग के परामर्शदाता, भारत के शिक्षामंत्रालय की विश्वकोष परामर्शदात्री समिति से सदस्य नियुक्त किए गए। वे १९५२ से १९५८ तक राज्यसभा के भी सदस्य रहे। उन्होंने अनेक बार जेल यात्राएँ की। उन्हे अपनी समाज-सेवा तथा साहित्यसेवा के लिए सम्मानित एव पुरस्कृत भी किया गया, पर वह धुन का धनी तो सबसे ऊपर था। उनके जीवन का उद्देश्य था–'हे प्रभो, मैं जब तक जीवित रहूँ, परोपकार करता रहूँ, मैं अधिक जीने की कामना नहीं करता। मैं जब तक जीना चाहता हूँ, जब तक मुझमें दूसरो की सेवा करने की सामर्थ्य रहे।'

ऐसे उस समाजसेवी, परोपकारी, त्यागी, तेजस्वी, सरस्वतीपुत्र के लिए उनके जन्म शताब्दीवर्ष मे हमारी विनत श्रद्धाञ्जलि।

(गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में आयोजित
जन्मशती संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख)

—o—

# बहुमुखी प्रतिभा के धनी
# पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति

—डा० प्रशान्त वेदालंकार

इन्द्र जी को अपने महान् पिता स्वनामधन्य स्वामी श्रद्धानन्द से प्रेरणा मिली थी किन्तु उन्होंने अपनी साधना और सतत् अभ्यास से स्वयं अपने ऊँचे चरित्र का निर्माण किया था। बचपन में ही उन्होंने अपने देश, धर्म और जाति की सेवा का व्रत ले लिया था। इस सेवाव्रत से वे कभी विचलित नहीं हुए। अन्तिम श्वास तक वे यही कहते रहे— "तावज्जीवितुमिच्छामि यावच्छानोमि सेवितुम्" अर्थात् मैं तभी तक जीना चाहता हूँ जब तक यह शरीर सेवा योग्य रहे। सहज सादगी, मितव्ययिता और विवेकपूर्वक सकल्प द्वारा सब ससारी प्रलोभनो का परित्याग करके वे राष्ट्रसेवा के विविध प्रकल्पों को पूरा करने मे निरन्तर लगे रहे।

बचपन मे ही आपने डायरी मे लिखा—"मैंने खूब सोचा है और जाना है कि मातृभूमि कई पुत्रो का बलिदान चाहती है। बलिदान यह नहीं कि क्षणभर जीकर मर जाना—अपितु अपना दीर्घ जीवन पूर्णतः मातृ-भूमि को समर्पित कर देना।"

छात्रजीवन मे ही श्री इन्द्र का यह विचार था कि "दासों का धर्म कभी नहीं फैलता। अतः आर्यसमाज को स्वाधीनता प्राप्ति मे योगदान करना चाहिए।"

इन्द्र जी शैशवकाल से ही अपने मन और हृदय से लोकमान्य तिलक के अनुयायी थे। लौकमान्य को उन्होंने अपना राजनीतिक गुरु मान लिया था। इस राजनीतिक विचारधारा का प्रभाव गुरुकुलीय जीवन पर भी पड़ा। गुरुकुल मे अंग्रेज अधिकारियों का आना उनको अच्छा नहीं लगता था। उनका बहिष्कार तक करने के आन्दोलन का नेतृत्व उन्होने किया। विद्यार्थी इन्द्र का हृदय देश मे चल रही आँधियो और तूफान से प्रभावित होता था। इनमें वह गुरुकुल में रहते हुए और पढ़ते हुए भी मन से और हृदय से भाग लेता था। छात्र-जीवन में ही आपने राष्ट्र-भक्ति का यह गीत लिखा था—

हे मातृ-भूमि तेरे चरणों में सिर नवाऊं।
मैं भक्ति भेंट अपनी तेरी शरण में लाऊं।
तेरे ही काम आऊं, तेरा ही मंत्र गाऊं।
मन और देह तुझ पर बलिदान मैं चढ़ाऊं।

अपने जीवन के प्रारम्भिककाल में ही अपने कर्म उन्होंने निश्चित कर लिए थे। उन्होंने १६ जून १६१३ को अपनी दैनन्दिनी में लिखा –"आर्यों की जन्म-भूमि आर्यावर्त्त को उसी ऊँचे स्थान पर पहुँचाना है, जिस पर और सभ्य देश पहुँचे हुए हैं। यह सब मानसिक, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक स्वाधीनता के बिना असम्भव है। मेरा कार्य होगा—

१. भारतवासियों के जीवन मे सच्चे धार्मिक भाव उत्पन्न करना।
२. भारतवासियों मे उपयोगी राष्ट्रशिक्षा का प्रचार करना।
३. जिन्हे नीच या अछूत जातियां कहा जाता है, उन्हे ऊंची जातियों के समान कर देना।
४. राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करना।
५ धार्मिक, जातीय और प्रातीय भेद छोड़कर लोगो मे एक भारत और भारतीय जाति के भाव पैदा करना–यह समझाना कि देश बन्धु है, देशशत्रु धर्मशत्रु है।
६. भारतवर्ष से सामाजिक कुरीतियो को दूर करना।

यदि भारत पराधीन न होता तो सम्भव था इन्द्रजी अध्ययन-अध्यापन तक ही अपने को सीमित रखते, किसी अनुसधानकार्य में अपने को लगाते और अपनी सर्वतोमुखी, प्रतिभा को किसी उत्कृष्ट और स्थायी साहित्य के निर्माण या वेदभाष्य मे लगाते। वेदभाष्य करने का विचार उनके मन मे छात्रावस्था मे ही आया था। पर राष्ट्रसेवा के जो उन्होने प्रकल्प निश्चित किये, वे विविध थे। उनमे (१) आर्यसमाज, (२) गुरुकुल-कागड़ी, (३) लेखन, (४) पत्रकारिता, (५) राजनीति जैसे कांग्रेस, दिल्ली स्वदेशी सघ के प्रेसिडेण्ट, अस्पृश्यता निवारक लीग के जनरल सेक्रेटरी, दलितोद्धारक सभा के सेक्रेटरी आदि, (७) हिन्दी साहित्य सम्मेलन व नागरी प्रचारिणी सभा आदि कार्य प्रमुख थे।

वे सम्पूर्ण जीवन ही विविध कार्यों में व्यस्त रहे। २२ जनवरी १६५५ को आपने अपनी दैनन्दिनी मे लिखा– (१) गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता हूँ, (२) भारतीय राज्यसभा का सदस्य हूँ, (३) सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्यकर्त्ता-प्रधान हूँ, (४) यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन मे सलाहकार के तौर पर बुलाया जाता हूँ व (५) भारत शिक्षा मन्त्रालय की विश्वकोष परामर्श समिति का सदस्य हूँ।

ये सभी व्यस्तताएं यह सिद्ध करती हैं कि वे जीवनभर साहित्य, समाज

और राष्ट्र की सेवा में सन्नद्ध रहे। यहाँ हम उनके जीवन के कुछ विशिष्ट पक्षों पर प्रकाश डालेंगे।

## महान् लेखक

इन्द्र जी ने विद्यार्थीकाल से ही लिखना आरम्भ कर दिया था। कुछ तो निबन्ध लिखे सभाओं में पढ़ने के लिए, कुछ लेख लिखे समाचारपत्रों के लिए। शिक्षाकाल में लेखनी अव्याहत रूप से चलती रही। उठने के बाद प्रातःकाल प्रतिदिन श्लोक बनते रहे। संस्कृत के प्रति यह अनुराग यहाँ तक बढा कि डायरी भी संस्कृत में लिखनी प्रारम्भ कर दी। महाभारत की शैली पर उन्होंने भारतेतिहासम् महाकाव्य गुरुकुल पत्रिका में क्रमशः लिखा।

वे दिन उग्र राष्ट्रीयता के दिन थे। श्री तिलक और लाला लाजपतराय के देश-निर्वासन से राजनीतिक जगत् में बहुत गर्मी थी। इन सब का पडित जी पर प्रभाव पड़ा। परिणामतः उन्होंने नेपोलियन बोनापार्ट, प्रिन्स बिस्मार्क, गैरीबाल्डी आदि क्रान्तिकारियों की जीवनी लिख डाली।

एक स्थान पर स्वयं उन्होंने अपने लेखन के सम्बन्ध मे टिप्पणी की है—"अब भी मैंने २४ पुस्तकें लिखी हैं। २२ साल की उम्र मे नेपोलियन बोनापार्ट की जीवनी लिखी थी। उसके बाद प्रिंस बिस्मार्क और गैरीबाल्डी के जीवन-चरित्र लिखे। सन् १६२७ मे जेल गया तो मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण ग्रन्थ लिखा। जेल-यात्रा के परिणामस्वरूप 'शाहआलम की आँखे', 'सरला की भाभी : तीन भाग', 'अपराधी कौन' और 'जमीदार' ये छः उपन्यास लिखे। पुस्तकें लिखने मे मुझे बड़ा उत्साह रहता। उस समय मुझे आर्थिक लाभ का ध्यान नही रहता। इसलिए मेरी पुस्तकों मे से अधिकाश को दुबारा छपाने का ध्यान ही मुझे नही आता। आजकल मैं 'किरातार्जुनीय' के दो-चार श्लोको का रोज अनुवाद करता हूँ। संस्कृत-ग्रन्थो के अनुवाद मेरी दृष्टि में हिन्दी के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। छात्रावस्था में मैं संस्कृत और हिन्दी कविता भी करता था। एक बार आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हमारी संस्कृत काव्य-रचना की परीक्षा भी ली थी। मेरी हिन्दी कविताओं का सशोधन पण्डित श्रीधर पाठक किया करते थे। गाधीजी की आश्रम भजनावली मे 'हे मातृभूमि तेरे चरणो मे सिर नवाऊँ' गाना मेरा ही लिखा हुआ है। लगभग ४० वर्ष से मैंने कविता करना छोड दिया है। मुझे अनुभव हुआ कि मेरे लिए गद्य लिखना ही स्वाभाविक है।

गत वर्ष मैंने रघुवश के आधार पर हिन्दी मे सम्राट रघु का जीवन-चरित्र प्रकाशित किया था। अब मैं 'किरातार्जुनीय' के आधार पर 'अर्जुन की घोर तपस्या' लिख रहा हूँ। साथ ही मैं भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य के उदय और अस्त पर एक बड़ी

पुस्तक भी लिख रहा हूँ, जो मेरी मुगल साम्राज्य सम्बन्धी पुस्तक के ढंग की होगी। १६५५ के आरम्भ (२२-१-५) को इन्द्र जी ने अपने साहित्यिक कार्यक्रम का जो लेखा तैयार किया था वह दर्शनीय है—"आजकल निम्नलिखित पुस्तके लिख रहा हूँ—(१) ईशोपनिषद भाष्य, (२) आर्यसमाज का इतिहास (दूसरा भाग), व (३) भारत मे ब्रिटिश राज्य का उदय और अस्त। पत्र-पत्रिकाओं मे लेख भी भेजता रहता हूँ।"

इन्द्रजी ने अकबर से लेकर लार्ड माउन्ट बेटन तक के भारत का इतिहास लिखा है। यह सम्पूर्ण इतिहास ७ खण्डों मे है। कहानी कहने के टेक पर ऐतिहासिक विश्लेषण और उत्थान-पतन की गाथा लिखी है। १६३७ मे जन्माष्टमी के दिन "मुगल साम्राज्य का क्षय" का चौथा भाग भूमिका सहित समाप्त किया। इस महान् ग्रन्थ को लिखने मे इन्द्रजी को लगभग दस साल लगे। १६२७ मे फिरोजपुर जेल मे इसका लिखना प्रारम्भ हुआ था। इसकी तैयारी छात्रजीवन मे ही कर ली गई थी। प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक 'डिक्लाइन आफ रोमन एम्पायर' (पाँच भाग) ने इसको लिखने की प्रेरणा दी, इसकी शैली और भाषा दोनो अनुपम हैं। ऐतिहासिक विवेचन पूर्णतः विश्लेषणात्मक है।

मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण कहने को तो सचमुच इतिहास की प्रामाणिक पुस्तक है, पर इतनी सरल, इतनी सजीव कि निश्चित रूप से एक कलाकृति। पढकर मन मुग्ध हो गया और एक श्रेष्ठ लेखक के रूप मे मेरे मन पर उनका प्रभाव अंकित हो गया।

अमर शहीद श्रद्धानन्द जी के बलिदान से पहले आर्य-समाज का इतिहास लिखने का कार्य प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति को सौंपा गया था। इस इतिहास का पहला भाग दयानन्द जन्म-शताब्दी के मौके पर १६२५ में प्रकाशित हुआ था। किन्तु उसका दूसरा भाग १६४४ में निकला।

प० जी के लेखन से स्पष्ट है कि उन्होने साहित्यरचना मे इतिहास को विशेष महत्त्व दिया। गुरुकुल के पाठ्यक्रम मे इतिहास के अध्यापन का अपना एक विशेष स्थान है। यहाँ प्रारम्भ से ही इतिहास का विषय विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से पढाया जाता रहा है। पण्डितजी को इस विषय मे विशेष रुचि थी। इतिहास के अध्यापन को अधिक गहरा और महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए उन्होने गुरुकुल मे एक ऐतिहासिक सग्रहालय की स्थापना की। इस सग्रहालय में प्राचीन इतिहास से सम्बद्ध बहुत अधिक उपयोगी सामग्री का सग्रह किया गया। हरिद्वार मे आने वाले यात्रियों के लिए गुरुकुल के अन्य विभागों की भाँति उसका यह संग्रहालय भी बहुत अधिक आकर्षण का विषय रहता है। इस सग्रहालय के लिए सरकार से समय-समय पर राशि सहायता में प्राप्त की जाती रही है।

पण्डित जी स्वयं एक बड़े विद्याव्यसनी पुरुष थे। इसलिए पुस्तकालय के साथ उनका विशेष स्नेह था। उनके समय में गुरुकुल के पुस्तकालय की भी बहुत अधिक उन्नति तथा विस्तार हुआ। विभिन्न विषयों की हजारों नयी उपयोगी पुस्तकें पुस्तकालय के लिए मँगवाई गयी। पुस्तकालय के पुराने भवन मे पुस्तकों के लिए स्थान की कमी हो जाने पर इस भवन के विस्तार के लिए दूसरी मंजिल पर दो नये बड़े-बड़े हाल और बनवाये गये।

## हिन्दी के अनन्य सेवक

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का दिल्ली मे पहला अधिवेशन सन् १९२० में २४ से २७ मार्च को हुआ था। यह अधिवेशन स्वामी श्रद्धानन्दजी के आशीर्वाद, सेठ केदारनाथ में कर्मठता और प्रो० इन्द्र के प्रयत्न से हुआ था। कार्यवाहक प्रधान प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति थे। अयोध्यासिंह 'हरिऔध' इसके सभापति थे। इस सम्मेलन ने दिल्ली के जीवन मे हिन्दी के वातावरण का निर्माण किया। विशालस्तर पर एक कवि-सम्मेलन हुआ।

नवम्बर १९४८ मे आप प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने गये। यह उसका दूसरा वार्षिक अधिवेशन था। इन दिनो देश का वातावरण बदल रहा था। स्वाधीनता आने के साथ देश-विभाजन भी हो रहा था। हिन्दी का प्रश्न भी तीव्र रूप में आया। अब हिन्दी की सीधी टक्कर अंग्रेजी से हुई। अब तक अंग्रेजी-पत्र इस टक्कर को बचाये हुए थे। इस वास्तविक प्रश्न को वे हिन्दी बनाम उर्दू, हिन्दी बनाम हिन्दुस्तानी आदि विविध रूपो मे उलझा देते थे। लेकिन अब यह सम्भव नहीं रहा था। ऐसी कठिन परिस्थिति मे दिल्ली ने इन्द्रजीसदृश सुलझे हुए और परखे हुए निष्ठावान् व्यक्ति के हाथ मे बागडोर देकर दूरदर्शिता का परिचय दिया। इन्द्र जी ने संविधान-परिषद् को भाषा सम्बन्धी समस्या का हल करने मे सब तरह से मदद दी और सम्मेलन के अध्यक्ष-पद का कार्य अत्यन्त सुचारु रूप से किया। इससे हिन्दी-जगत् मे दिल्ली की प्रतिष्ठा बढ़ी और दिल्ली के मत को हिन्दी-जगत् का मत माना जाने लगा। दिल्ली का सम्मेलन प्रदेश स्तर का था, लेकिन इन्द्रजी के सभापति होने के कारण इसमे श्रद्धेय टण्डन जी, मुख्यमन्त्री श्री रविशंकर शुक्ल, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', ठाकुर छेदीलाल और विधान-परिषद् के अन्य अनेक सदस्यों ने भाग लिया। अतः इस सम्मेलन ने भी अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का रूप धारण कर लिया। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन मेरठ मे दिसम्बर १९४८ मे सेठ गोविन्ददास की अध्यक्षता मे हुआ। इस सम्मेलन ने उसकी भूमिका का कार्य किया और उसके लिए मार्ग तैयार कर दिया। दिल्ली मे किये गये निर्णय ही मेरठ में दोहराये गये।

पंडित जी के भाषा के सम्बन्ध में विचार बहुत स्पष्ट थे। उनका कहना था—"इस समय देश की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि सर्वसाधारण को शिक्षा दी जाये। केवल

पाठशालाओं से नही, हर एक भाषा मे उत्तम तथा जीवनयोग्य पुस्तकों की आवश्यकता है। यह क्यो पूरी नही होती ? अंग्रेजी लिखना परम धर्म समझा जाता है। इससे लाभ क्या ? अंग्रेजी के लिए काम करने वाले बहुत हैं। इसलिए मैं अपनी भाषा मे ही लिखूंगा। अंग्रेजी लिखने के प्रलोभन मे न पड़ूँगा।"

नाम, धन और लाभ पर लात मारकर प्रो० इन्द्र ने हिन्दीसेवा का व्रत ग्रहण किया। हिन्दी की सेवा कितनी उदात्त भावना से प्रो० इन्द्र ने की, उसकी गवाही उपर्युक्त निश्चय दे रहा है। मातृभूमि और जनता की सेवा अंग्रेजी के द्वारा नहीं हो सकती, वह तो हिन्दी द्वारा ही सम्भव है, इस सत्य का दर्शन प्रो० इन्द्र ने १६१३ मे ही कर लिया था। प० जी ने एक स्थान पर लिखा—"हमारी दिमागी गुलामी का चिन्ह है कि हम यूरोप के पढे हुए की बडी प्रतिष्ठा करते है। गवर्नमेंट तो जानबूझकर इनकी प्रतिष्ठा करेगी ही। इससे अंग्रेजी उपाधि वाले 'अंग्रेजो' की प्रतिष्ठा बहुत अधिक होती है। विदेशी डिग्री की प्रतिष्ठा करना दिमागी दासता है।" भारतीय भाषाओ के प्रति निष्ठावान होने के कारण प० जी ने सदा हिन्दी या संस्कृत मे ही लिखा।

## राजनीति में अग्रणी

इन्द्र जी का सीधा सम्बन्ध आर्यसमाज से था। पर देश की स्वतन्त्रता के लिए उनको राजनीति मे प्रवेश करना पडा। उनका स्पष्ट मत था—शरीर के एक अंग मे रोग होते हुए दूसरा सर्वथा नीरोग नही हो सकता। काग्रेस की सस्था मे धर्म, शिक्षा और समाज की अवहेलना से सगठन को हानि हो रही है, और आर्य समाज ने, जिसे उसके संस्थापक ने सर्वांगपूर्ण बनाया था राजनीति का बहिष्कार करके अपने आपको समय से पीछे डाल लिया है। आर्यसमाज संसार का उपकार करना चाहता है। क्या राजनीति के क्षेत्र मे उपकार का कार्य नही हो सकता ? आर्यसमाज सशोधन पर कटिबद्ध है, राजनीतिक रोग भी सामाजिक रोग हैं, क्या ये सुधार नही चाहते हैं ? एक अंग को सर्वथा छोडकर आर्यसमाज अपनी उपयोगिता को कम कम रहा है।

उस समय राजनीति के क्षेत्र में कांग्रेस ही एक ऐसा दल था जिसमे व्यक्ति राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए कुछ कर सकता था। २६ सितम्बर १६३४ को इन्द्रजी ने जिला कॉंग्रेस कमेटी की प्रधानता स्वीकार कर ली। यह उत्तरदायित्व उन्होने कई वर्षों के इन्कार के बाद लिया था। इसे पूरा बल लगाकर निभाने का सकल्प आपने कर लिया। इस उत्तरदायित्व को लेने के साथ उन्होने प्रण किया—"सार्वजनिक जीवन मे जिस सादे जीवन की आवश्यकता है, उसका प्रण तो मैं दो मास पहले ही कर चुका हूँ। मैं कुछ वर्षों से खर्चीले जीवन की ओर बढ रहा था। उस पर विराम चिन्ह लगा दिया। समृद्ध जीवन और सार्वजनिक सेवा—यह दो जुदा-जुदा मार्ग हैं। इस समय भारत जैसे पराधीन देश में ये दोनों साथ-साथ नही चल सकते।"

इण्डिया एक्ट १९३५ का पहला भाग लागू हो गया । इसके अनुसार प्रान्तीय विधान सभाओं का चुनाव हुआ । कांग्रेस ससदीय समिति के अध्यक्ष इस समय सरदार पटेल थे । चुनाव-संग्राम में कांग्रेस को सफल बनाने के लिए इन्द्रजी ने रोहतक, मेरठ, मुजफ्फरनगर, बिजनौर, देहरादून और खुर्जा मे बड़ा काम किया और इससे कांग्रेस को असाधारण सफलता मिली ।

इस सफलता से उत्साहित होकर इन्द्र जी की अध्यक्षता मे प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने म्युनिसिपल चुनाव लडने का निश्चय किया । चुनाव लडे गये । कांग्रेस के प्राय. सभी प्रत्याशी विजयी हुए । इसमे प० जी की राजनीतिक जीवन पर धाक बैठ गयी ।

पर सैद्धान्तिक आधार पर कांग्रेस छोड़ देने पर भी वे किसी अन्य दल मे नही गये । इस विषय मे उनका स्पष्ट मत था "राजनीतिक पार्टी के सम्बन्ध में मेरा विश्वास है कि मनुष्य को उसका चुनाव उसी प्रकार करना चाहिए, जैसे वर-वधू का चुनाव किया जाता है । चुनाव से पहले खूब सोच-विचार कर लेना चाहिए । परन्तु एक बार चुनाव हो जाने पर जहाँ तक सम्भव हो, तलाक न होना चाहिए । मैंने राजनीति मे कांग्रेस को प्रारम्भ से ही अपना लिया था और अब तक उसी मे हूँ । इसका यह अर्थ नही कि मैं कांग्रेस का गुलाम हूँ । मैं राजनीति के कार्यक्षेत्र मे कांग्रेसी, परन्तु पत्र-कारिता के क्षेत्र मे स्वतन्त्र समालोचक हूँ ।" वे कांग्रेस की निरन्तर आलोचना करते रहे । अन्त मे उनको कांग्रेस छोडनी भी पड़ी । पर कांग्रेस छोडकर किसी और दल की ओर उन्होने नही ताका । कांग्रेस छोडने का कारण सैद्धान्तिक था ।

उनका कहना था—"महात्मा गाधी सत्याग्रह के लिए जिस प्रकार की मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसा की आवश्यकता समझते हैं, वह एक अस्वाभाविक वस्तु है ।" उनका कहना था कि महात्माजी को यह भ्रम है और इस भ्रम को पालने के लिए जहाँ महात्माजी उत्तरदायी हैं, वहाँ वे लोग उनसे भी बढ़कर उत्तरदायी हैं जो महात्माजी की अहिंसा को न मानते हुए भी महात्माजी के अनुयायी बने हुए हैं । उन्होने कांग्रेस से अपना त्यागपत्र देते हुए लिखा कि मेरा त्याग-पत्र ईमानदारी से बेईमानी का अवलम्बन न करने के कारण से है । जो व्यक्ति महात्माजी द्वारा की गयी शान्तिमय शब्दों की व्याख्या को न मानता हो, उसके सामने ईमानदारी का यही एक उपाय है कि वह अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दो मे प्रकट कर दे । मैंने वही किया है ।

पं० जी राजनीति मे जिस दृढता व वीरता के पक्षधर थे, उसको लाने का उन्होने महान् प्रयत्न किया । मेरठ कांग्रेस पर सरदार पटेल ने कहा था—"तलवार का जबाब तलवार से दिया जायेगा ।" सरदार पटेल के इस कथन का स्वागत करते हुए इन्द्रजी ने ३० दिसम्बर १९४६ को 'वीर अर्जुन' के अग्रलेख में लिखा—"महात्मा गांधी के नेतृत्व को मानने वाली कांग्रेस सदा 'ओ३म् शान्ति ! शान्ति !! का उच्चारण ही करती रही ।

यह पहली बार है कि कांग्रेस की व्याख्यानवेदी पर से शौर्य की ललकार सुनी गयी है। जिन लोगो पर काल्पनिक शान्ति का गहरा असर हो चुका है, वह सरदार पटेल के वाक्य से आश्चर्य में पड़ गये हैं। इधर अटल अहिंसावादियों को सरदार की घोषणा अच्छी नही लगी, और उधर नरम उत्तरों के अभ्यस्त मुस्लिम लीग के कानों पर वह वज्र के समान गिरी है। इन दो समुदायो को छोड़ दें तो शेष सब देशवासियो को सरदार पटेल की ललकार से आश्वासन और जीवनसन्देश मिला है।

हिंसा–अहिंसा के शास्त्रीय विवाद मे अपना पक्ष स्पष्ट करने के लिए इन्द्रजी ने जीवन सग्राम नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक के प्रारम्भ में 'विजय रहस्यम्' नाम से इन्द्र जी ने ११ श्लोक लिखे हैं। उसकी एव पक्ति है–'सबला एक जीवन्ति, विलीयन्ते तु निर्बला।'

स्वतन्त्रताप्राप्ति के उपरान्त भारत के उस समय के राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद ने आपको राज्यसभा का सदस्य मनोनीत किया। राज्यसभा के सदस्य के रूप मे देश की राजनीति को ठीक दिशा देने मे भी उनका योगदान बहुत अधिक है।

## प्रखर एवं आदर्श पत्रकार

पत्रकारिता का शौक इन्द्र जी को बचपन से था। विद्यालय विभाग मे पढ़ते हुए वे और उनके अग्रज हरिश्चन्द्र जी छिपकर पत्र निकालते थे। यह उनके पिताजी को भी मालूम न था। गुरुकुल कागड़ी की ६वी कक्षा मे आने पर दोनो भाई अलग-अलग हस्तलिखित पत्र निकालने लगे। हस्तलिखित पत्र–पत्रिकायें निकालने की पद्धति ब्रह्मचारी इन्द्र ने चलायी, वह दीर्घकाल तक गुरुकुल मे चलती रही।

पं० इन्द्र जी के लेखन मे तेजस्विता १३वी कक्षा मे ही आ गयी थी। प० शिव-शकर जी के लिखे ग्रथों को पढकर उनके मन मे विद्रोह पैदा हुआ और उन्होने उस ग्रन्थ की आलोचना मे एक लम्बा लेख लिख डाला। उसका उत्तर छपा तो और लेख लिखा। उन्हीं लेखो से उनको विश्वास हो गया कि वे एक दिन लेखक अवश्य बन जाएँगे।

सद्धर्म प्रचारक के संपादन का भार भी बहुत जल्दी विद्यार्थीजीवन में ही इन्द्र जी पर आ गया था। उसके तीन पृष्ठ प्रति सप्ताह इन्द्र जी की लेखनी से लिखे होते थे।

सम्राट जार्ज पंचम का राज्याभिषेक १९११ मे दिल्ली मे हुआ था। इस अवसर पर हुए दरबार में सम्मिलित होने के लिए वायसराय ने महात्मा मुंशीराम पर बाद मे स्वामी श्रद्धानन्द को भी आमन्त्रित किया था। इसका लाभ उठाकर इन्द्र ने अपनी छात्रावस्था मे ही सद्धर्म प्रचारक का दैनिक संस्करण निकाला। आर्थिक दृष्टि से यह पूरी तरह घाटे का सौदा था—पर इससे 'सद्धर्म प्रचारक' की प्रसिद्धि हो गयी और इन्द्रजी को यह विश्वास हो गया कि वे दैनिकपत्र निकाल सकते हैं।

उनकी सद्धर्म प्रचारक की टिप्पणियों के कारण गणेशशंकर विद्यार्थी उनसे मिलने गुरुकुल आए। पंडित इन्द्र जी के इन साहित्यिक लेखो के कारण गुरुकुल के छात्रों में साहित्य-निर्माण की अभिरुचि हुई। पंडित जी की विषय प्रकट करने की शैली और भाषा अपने ढंग की थी। उसने हिन्दी साहित्य में एक विशेष स्थान प्राप्त किया।

इन्द्रजी ने बम्बई में नवराष्ट्र तथा दिल्ली मे सत्यवादी और वैभव पत्रों का प्रकाशन किया। पर उनकी प्रसिद्धि विजय से आरम्भ हुई।

१६१२ में जब दिल्ली आकर सार्वजनिक जीवन आरम्भ किया, तो पडित जी ने 'विजय' नामक पत्र निकाला। अपने इस पत्र के बारे मे टिप्पणी उन्होने स्वय की है. "पत्र निकला, पत्र छपता था हैण्ड प्रेस पर। पहले दिन ७० कापियाँ बिकी और वह प्राय: हिन्दी पढने वाली लड़कियों ने ही ली। तीन महीने मे इसकी बिक्री १५०० तक पहुँच गयी। वह पत्र जितना छपता था, सब बिक जाता था। उन्ही दिनों महात्मा गाधी ने रौलट एक्ट पर सत्याग्रह की घोषणा कर दी और मुझे दिल्ली की सत्याग्रह कमेटी का मन्त्री बना दिया। उस समय मेरे जोश का यह हाल था कि कलम को मैंने बिलकुल बेलगाम भगाया। "विजय" की धूम मच गयी। यह पहला राष्ट्रीय-पत्र था। खूब बिकने लगा। उस पर सरकार की कोपदृष्टि पड़नी ही थी, जमानत माँगी गयी और सेन्सरशिप लगाया गया। फलत पत्र बन्द करना पड़ा। लेकिन आश्चर्य की बात यह थी कि मैं बेदाग निकल गया। दो साल चुप रखने के बाद उसी नाम को बदलकर मैंने 'अर्जुन' निकाला। बाद मे अर्जुन को 'वीर अर्जुन' करना पड़ा। इसका कारण यह था कि 'अर्जुन' से और मुझसे सरकार परेशान थी। दो हजार, पाँच हजार और एक हजार तक की जमानतें हमसे माँगी गयी और हमने दी थी। 'अर्जुन' के पाँच सम्पादक न्यूनाधिक समय के लिए जेल मे रहे। १६२७ में मैं कश्मीर गया तो मेरे पीछे 'अर्जुन' मे कुछ साम्प्रदायिक लेख छप गये, जिसके कारण 'अर्जुन' के सम्पादक, प्रिन्टर और पब्लिशर पर मुकदमा चल गया। मुझे ५।। साल की कडी सजा मिली, जो सेशन मे ६ महीने की रह गयी। साथ ही पत्र से पाँच हजार रु० की जमानत भी माँगी गयी। इसके बाद जमानत के जब्त होने की नौबत भी आ गयी। ऐसे संकट के समय हमे यह युक्ति सूझी कि क्यों न नाम बदल दिया जाये। हमने 'वीर अर्जुन' के नाम का डिक्लेरेशन दिया। सरकार ने यह सोचकर कि 'अर्जुन' का एक प्रतियोगी खड़ा होना अच्छा है, वीर अर्जुन के नाम से डिक्लेरेशन दे दिया। हमने 'अर्जुन' बन्द कर दिया और 'वीर अर्जुन चलने लगा।

वीर अर्जुन की रजत-जयन्ती बहुत धूमधाम से मनायी गयी। उसी अवसर पर बधाई भेजते हुए राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने निम्नोक्त सन्देश भेजा था—"वीर अर्जुन' की रजत-जयन्ती के अवसर पर उसे मेरी हार्दिक बधाई। पिछले २५ वर्षों में दिल्ली के प्रभावशाली क्षेत्र मे उसने मेरे प्यारे भाई इन्द्रजी की शक्ति पाकर निर्भीकता से देश की सेवा की है और हिन्दी का मान रखा है। यह हिन्दीभाषियों के प्रेम और सम्मान का

अधिकारी है। वह चिरंजीवी हो, और इन्द्रजी के करों में हिन्दीप्रेम का आशीष सदा राष्ट्रीयता की रक्षा करे।"

वे अपनी ६२ वर्ष की आयु में जनसत्ता के भी सम्पादक बने। पर सम्पादक बनने से पूर्व उन्होंने कुछ शर्तें रखी—सबसे पहली शर्त तो यह है कि मैं पत्र की सम्पादकीय नीति में सर्वथा स्वतन्त्र रहूँगा। मैं उसमे किसी का हस्तक्षेप नही चाहूँगा। जिस दिन मेरी नीति मे हस्तक्षेप किया जायेगा, उसी दिन पत्र से सम्बन्ध विच्छेद कर लूँगा। दूसरी शर्त यह कि मुझ पर पत्र कार्यालय में समय का कोई बन्धन न होगा। ससद्, गुरुकुल तथा अन्य जिम्मेदारियो के कारण कार्यालय मे नहीं बैठ सकूँगा, तो भी सम्पादकीय विभाग की पूरी जिम्मेदारी मेरी होगी।

इन दो शर्तों के साथ मैं केवल दो वर्ष तक नया पत्र चलाने में सहायता दूँगा और मैं विश्वास रखता हूँ कि यदि प्रेस और प्रबन्धविभाग ने पूरी सहायता दी तो दो वर्ष मे ग्राहक सख्या ३०,००० तक पहुँच जायेगी।

जनसत्ता को लोगो ने कितना पसन्द किया और पत्र के मालिक की आशाएँ कितनी पूरी हुई, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि एक वर्ष के अन्दर-अन्दर पत्र १५००० से ऊपर छपने लगा और उसकी प्रसिद्धि उसी कार्यालय से निकलने वाले अंग्रेजी दैनिक से अधिक हो गयी। जैसे ही उनको लगा कि समाचार-पत्र का मालिक उनके कार्य मे हस्तक्षेप करने लगा है तो उन्होने एक जुलाई १९५२ को जनसत्ता का सम्पादन यह कहकर छोड़ दिया कि—"आपने आश्वासन के विरुद्ध मेरी सम्पादकीय-नीति मे हस्तक्षेप करने का यत्न किया है।"

पत्रकारिता के सम्बन्ध मे पडितजी के स्पष्ट मत थे—"पत्रकार दो प्रकार के होते हैं, एक तो सर्वश्री गणेशशकर विद्यार्थी, महात्मा गाधी और लोकमान्य जैसे मिशनरी पत्रकार, दूसरे आर्थिक दृष्टि मे सफल पत्रकार। मेरी सम्मति मे पत्रकार किसी भी प्रकार के हो, सफलता उन्ही को मिलेगी, जो स्पष्ट, डायरेक्ट लिखेगे। अग्रलेख भी छोटा हो, एक या सवा कालम का। दो-ढाई कालम का अग्रलेख व्यर्थ है। लिखते समय पत्रकार को ग्राहक का हृदय पकडने की कोशिश करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि पत्रकार के लिए अपनी सम्मति की स्वतन्त्रता को बचाना भी आवश्यक है। क्योकि ग्राहक ऐसे प्रभावशाली पत्रकार का आदर करते हैं, जो निर्भीकता से सत्य का समर्थन करे। तीसरी बात यह है कि वह जो सम्मति बनाये, खूब सोच-समझकर बनाये और अन्त तक उस पर दृढ रहे। कारण, वह जनता का सच्चा पथप्रदर्शक है और चचल बुद्धि होने से वह जनता का विश्वास खो बैठेगा। चौथी बात है, उसका निष्पक्ष होना। उसे किसी पार्टी का वकील नही बनना चाहिये। ऐसा करने से वह सन्तुलन खो देगा और सन्तुलन खो देना पत्रकार की सफलता मे सबसे बड़ी बाधा है। विदेशों में पत्रकार

का स्थान मिनिस्टरों के बराबर माना जाता है। मैं तो उसे मिनिस्टर से ऊँचा मानता हूँ। क्योंकि मिनिस्टर सरकार की नीति से बँधा हुआ है और सम्पादक सर्वथा स्वतन्त्र रहता है। जो पत्रकार वकील की तरह चाहे जिस पार्टी का प्रचार करने लग जाता है, वह पत्रकारिता के स्तर को नीचा करता है। यदि यही होता रहा और पत्रकार की स्वतन्त्रता लुप्त हो गयी तो पत्रकारिता की अन्त्येष्टि समझनी चाहिए। मेरी सम्मति में, सफल पत्रकार वही होता है जो निर्लोभी और तपस्वी हो। इसलिए तपस्या सफलता का मूल आधार है।"

पंडित जी ने एक स्थान पर लिखा है—"अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तनों के हो जाने पर भी समाचार-पत्र का मुख्य कार्य आज भी समाचार देना ही है। जनता तक अप्रिय सच्ची बात पहुँचाने से जैसे उस समय सरकार अप्रसन्न होती थी, आज भी होती है, किन्तु अन्य सभी अंशों में बहुत परिवर्तन आ गया है। प्रभाव में आजकल का समाचार-पत्र सरकार से बराबर की टक्कर लेता है। कानून की शक्ति सीधे तौर पर हाथों में न होने से उसे कानून से तत्काल दबना पड़ता है, परन्तु लोकमत द्वारा वह कानून को प्रभावित करने की शक्ति रखता है। इस कारण उसके प्रभाव को दीर्घ दृष्टि से देखें, तो वह सरकार से कम नहीं।"

यदि पत्रों का ध्येय केवल अर्थोपार्जन ही हो गया, तो वे समाज का जितना कल्याण करेंगे, उससे अधिक अकल्याण भी हो सकता है।

पंडित जी पत्रकार के रूप मे कितने निर्भीक थे, इसके लिए कुछ निदर्शन अनिवार्य हैं—१६४६ मे भारतीय सेना के एक विभाग ने क्रान्ति की सूचना दे दी थी। अंग्रेज सरकार उसे तब बगावत कहकर दबा देना चाहती थी। तभी अंग्रेज शासकों को चेतावनी देते हुए श्री इन्द्रजी ने लिखा था—"वायस एडमिरल गोडफे और उस देश के लोगों से कहना चाहता हूँ कि "हुजूर यह बगावत नहीं, राज्यक्रान्ति है। आपकी नींद मे दखल पड़ रहा है, परन्तु सच्चाई को न देखकर प्रेम मे पड़े रहने से काम नहीं चलेगा।"

—राष्ट्र के नेताओ के सिर पर बहुत भारी उत्तरदायित्व है। शासन का काम अप्रिय हो तो उसे करना ही पड़ता है। यदि अप्रिय करने से डर लगता हो तो शासक को गद्दी का परित्याग कर देना चाहिए। अस्थायी सरकार का सबसे प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह बिना विलम्ब गुण्डों और उनके नेताओ का दमन करके देश के निहत्थे-निरीह निवासियों के जानमाल की रक्षा करे।

—अपने माननीय नेता पं० जवाहरलाल नेहरू से मेरा निवेदन है कि भारत के सीमाप्रान्त और सीमाप्रान्त के आगे समुद्र पार दृष्टि दौड़ाने से पहले देश की सीमाओं के अन्दर दृष्टिपात करें। वह ध्यान मे रखें कि देश में निरपराध पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों

पर प्रहार या जो भी अत्याचार होगा, उनके लिए अस्थायी सरकार जिम्मेदार समझी जायेगी। यदि गुनाहों का बोझ बहुत अधिक बढ़ गया तो हमारे सम्मानित नेताओं के कन्धे भी उसे न उठा सकेंगे। मैं यह निवेदन देश की साधारण प्रजा का प्रतिनिधि बनकर अपने राष्ट्रीय नेताओं से कर रहा हूँ। संक्षेप में निवेदन यह है कि या तो दृढ़ता से देश का शासन करो अथवा यह घोषणा करके कि वर्तमान शासन-विधान रहते देश का प्रबन्ध करना सम्भव नहीं, सरकार की बागडोर वायसराय के हाथ मे वापिस दे दो। देशवासियों की हत्या मे हिस्सेदार बनने से राष्ट्रीय नेताओं को कोई लाभ नहीं होगा (अर्जुन : २६ अक्तूबर १६४६)।

—सिन्ध मे कांग्रेस तथा मुस्लिम-लीग का सम्मिलित मन्त्रिमण्डल बनाने का विचार हो रहा है। यदि यह समझना निर्मल है तो कोई बात नही। परन्तु यदि इसमे सच्चाई का थोडा-सा भी अंश है तो एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि कांग्रेस पार्टी मुस्लिम लीग के व्यवहारिक रूप से जो भी समझौता करे, पाकिस्तान की किसी रूप मे स्वीकृति उसका हिस्सा नहीं होनी चाहिए।

'यह खुशामद किसलिए ?' इस शीर्षक से उन्होने महात्मा गांधी की तीखी आलोचना की।

महात्मा जी लगभग दो मास से दैनिक उपदेशों तथा हरिजन के लेखो द्वारा भारत के मुसलमानो से यह विनती कर रहे हैं कि वे पाकिस्तान न जायें, इसके लिए महात्माजी मुसलमानो को तरह-तरह के आश्वासन देते और हिन्दू-सिक्खो को डांटते-डपटते हैं। दब्बू नीति से काम नहीं चलेगा।

—वे स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद अपनी ही सरकार को चेतावनी देते व उनका ठीक दिशा निर्देश करने मे कभी नहीं चूके—उनके शीर्षक थे—कांग्रेस की मौलिक भूल, कांग्रेस की दूसरी भूल, राष्ट्र के नेताओ की दूसरी परीक्षा : कश्मीर पर सकट, पाकिस्तान भारत पर आक्रमण कर सकता है ?, भारतवासियो को सशस्त्र बनाओ, राजदण्ड हाथ मे लो, नेहरूजी से निवेदन, साम्प्रदायिकता का बीज नाश, आदि।

—हिन्दुओ के साथ अन्याय . मैं पूछता हूँ क्या हिन्दूजाति में कोई ऐसा व्यक्ति है जो स्वतन्त्र राष्ट्र का शासक बन सकता है। यदि इस प्रश्न का उत्तर नहीं हो तो मान लेना पडेगा कि हमारा देश स्वतन्त्रता के योग्य नही है। परन्तु सच्ची बात इससे बिल्कुल ही उलटी है। हिन्दूजाति मे भी अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त किये जा सकते थे।

—हिन्दूराज की विभीषिका : स्वतन्त्र भारत में हिन्दुओं का बहुत बड़ा बहुमत होगा और इस कारण शासन की बागडोर उनके हाथों में रहेगी। यदि इसे हिन्दूराज कहते

हैं तो वह कायम हो चुका है, उसे किसी व्याख्याता के व्याख्यान नहीं उड़ा सकते। स्वतंत्र-भारत के शासन पर हिन्दुत्व की छाप रहेगी, इसमें भी कोई सन्देह नही। भारत का प्रधान राष्ट्रपति कहलायेगा, "कायदे आजम" नही।

—भारतीय संस्कृति की रक्षा : मेरा राष्ट्र और राष्ट्र के नेताओ से निवेदन है कि वे समय रहते सचेत होकर भारत की उज्ज्वल सस्कृति को अपनाये।

—अंग्रेज चले गये परन्तु : आपको इस तथ्य के अनेक प्रमाण मिल जायेंगे कि अंग्रेज भारत से चले गये तो भी अंग्रेजियत हमारे सिर पर सवार है। भारत की राजधानी दिल्ली की, जिसमे नयी दिल्ली भी शामिल है, सड़कों के नाम अब तक भी उन छोटे-बड़े अंग्रेज अफसरो के नाम पर बने हुए हैं, जिनके काले-कारनामों से भारत का गत दो-सौ वर्षों का इतिहास भरा पड़ा है।

—राष्ट्रीय गान कौन-सा है : हमारी स्वाधीनता के संग्राम का इतिहास "वन्दे मातरम्" के जीवनदायी स्वर के साथ ओत-प्रोत है।

भारत का इंग्लैण्ड से क्या सम्बन्ध हो आदि अनेक अग्रलेखो में प० जी ने स्वतन्त्र भारत का दिशा निर्देश किया।

ये लेखांश यद्यपि अर्जुन के अग्रलेख के रूप मे लिखे गये सम्पादकीय लेखो के अंश मात्र हैं—किन्तु इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। इनमे कही गयी बातें आज भी उसी रूप मे कही जा सकती हैं।

उन्हे पढने से स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रजी कोरे साहित्यिक, चिन्तक या पत्रकार नही थे बल्कि राष्ट्र के मार्ग-दर्शक भी थे। उनके विचारों से उस समय लोकमत बनता था और जनता मे विवेक जागृत होता था। देश मे राष्ट्रीय जागृति पैदा करने मे उनके लेखो ने अद्वितीय कार्य किया था। वस्तुत ये लेख संग्रहणीय है। भारतीय पत्रकारिता के ये उत्कृष्ट नमूने है, शैली की दृष्टि से भी ये अनुकरणीय हैं।

पडितजी केवल स्वतन्त्र पत्रकार ही नही थे। भारत मे पत्रकार-जगत् के स्वरूप व उसकी दिशा निर्धारण करने मे भी उनकी रुचि थी। प्रेस की स्वतन्त्रता सकट मे थी। इस सकट के निवारणार्थ आवश्यक उपायों पर विचार करने के लिए दिल्ली मे एक अखिल भारतीय सम्पादक-सम्मेलन बुलाने की योजना की गयी। इस सम्मेलन के आयो-जको मे तीन व्यक्ति मुख्य थे : देवदास गाधी (अंग्रेजी), श्री देशबन्धु गुप्त (उर्दू) और प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति (हिन्दी)। यह सम्मेलन स्टेट्समैन के सम्पादक श्री आर्थरमूर की अध्यक्षता मे हुआ। इसका दूसरा अधिवेशन भी दिल्ली में बम्बई क्रानिकल के सम्पादक श्री ब्रेलवी की अध्यक्षता में हुआ। 'आल इण्डिया एडिटर्स कान्फ्रेंस' की नीव इसी समय

पड़ी। वह आज तक जारी है। इस पर अंग्रेजी का प्रभुत्व था। अतः इन्द्रजी ने देशी भाषाओं के पत्रों का सम्मेलन बुलाने का संकल्प किया और उस सम्मेलन के आप स्वागताध्यक्ष बने। अखिल भारतीय हिन्दी-पत्रकार सम्मेलन का दूसरा वार्षिक-अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। इसके सभापति पण्डित जी चुने गये। दैनिक-पत्रों के सम्पादकों और संचालकों मे पंडितजी का सर्वोच्च स्थान था।

वस्तुतः हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में पं० इन्द्रजी विद्यावाचस्पति का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। उनको 'मेरी पत्रकारिता के अनुभव' प्रस्ताव पर उत्तर प्रदेश सरकार ने पुरस्कृत किया था। पत्रकारिता पर शोध करने वाले छात्रों के लिए पं० जी एक अच्छा विषय हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पं० जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। हमने उनके आर्यसमाज व गुरुकुल कांगड़ी के विषय में किये अभूतपूर्व कार्यों का प्रस्तुत लेख में उल्लेख नहीं किया। वह एक पृथक लेख का विषय है। पराधीन भारत में हिन्दी माध्यम का विश्वविद्यालय सचालित करने का श्रेय प० जी को जाता है। वे वर्षों तक गुरुकुल कांगड़ी के कुलपति तथा प्रख्याधिष्ठाता रहे। प०जी ने हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप पर अनेक आरोप किये थे। महामना के रहते हुए वहाँ अंग्रेजी माध्यम उनको अभीष्ट नहीं लगा। उनका मत था कि यदि हिन्दू विश्वविद्यालय ने शिक्षा का माध्यम हिन्दी को बनाया होता तो उसके बाद स्थापित होने वाले सरकारी विश्वविद्यालय अंग्रेजी माध्यम रखने का साहस न कर सकते।

इस शताब्दी वर्ष मे पूज्य पं० जी का पुण्यस्मरण और उनके कार्यों का विवेचन और सम्पादन हिन्दी-जगत् के लिए विशेष महत्त्व रखता है। हिन्दी-जगत् को वह एक दिशा और प्रेरणा प्रदान करेगा। हम पूज्य पंडितजी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त करते हैं।

७/२, रूपनगर,
दिल्ली-११० ००७

—oo—

# पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति की साहित्य-साधना

—प्रो० भवानीलाल भारतीय
अध्यक्ष, दयानन्द पीठ
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

हिन्दी के समसामयिक लेखकों में इन्द्र विद्यावाचस्पति का नाम महत्त्वपूर्ण है। वे जन्मना पंजाबी थे। किन्तु उनके लेखन और अभिव्यक्ति की भाषा हिन्दी ही थी। उनका जन्म ९ नवम्बर १८८९ को पंजाब के नवांशहर (जालन्धर) मे हुआ। उनके पिता स्वनाम-धन्य महात्मा मुन्शीराम उन दिनों जालंधर में वकालत करते थे। बहुत कम लोगो को यह ज्ञात होगा कि महात्मा मुन्शीराम और पं० मोतीलाल नेहरू कभी सहपाठी भी रहे थे और जवाहरलाल नेहरू इन्द्र जी से आयु मे मात्र पाच दिन ही छोटे थे। जब महात्मा मुन्शीराम ने आर्ष विद्याप्रणाली को पुन: प्रचलित करने के लिए गुरुकुल की स्थापना का निश्चय किया तो 'charity begins at home' की उक्ति के अनुसार अपने ही दोनों पुत्रो–हरिश्चन्द्र और इन्द्र को गुरुकुल मे प्रविष्ट कराने का संकल्प किया। गंगा के तटवर्ती कांगड़ी ग्राम मे तो गुरुकुल बाद मे आया, पहले इसे पंजाब के गुजरांवाला मे स्थापित किया गया था। बालक इन्द्र को भी इसमे प्रविष्ट करा दिया गया। इन्द्र जी गुरुकुल कांगड़ी के प्रथम स्नातक थे। उन्हें १९१२ मे वेदालंकार की उपाधि प्रदान की गई। बाद मे उन्होंने शोध प्रबंध लिखकर विद्यावाचस्पति की भी उपाधि ली। इन्द्र जी का पूरा नाम इन्द्रचन्द्र था, किन्तु वे इन्द्र विद्यावाचस्पति के नाम से ही जाने गये।

अध्ययन समाप्त कर पं० इन्द्र गुरुकुल कांगड़ी में ही संस्कृत, तुलनात्मक आर्य सिद्धान्त तथा इतिहास के उपाध्याय (प्रोफेसर) नियत हुए। दो वर्ष तक वे अपनी मातृ-संस्था मे पढाते रहे। तत्पश्चात् उन्हें गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ का मुख्याधिष्ठाता बनाया गया। १९२० में वे पुन: कांगड़ी आ गये और १९६० पर्यन्त इस शिक्षणसंस्था से मुख्याधिष्ठाता तथा कुलपति के रूप मे जुड़े रहे। इन्द्र जी का अपने पिता मुन्शीराम जी के साहित्यिक कामों मे सदा सहयोग रहा। जब १९११ मे महात्मा जी ने सद्धर्म प्रचारक को दैनिक बनाया तो इन्द्र जी उसके सम्पादक बनाये गए। उसके पश्चात् तो इन्द्र जी और हिन्दी पत्रकारिता दोनों का अटूट सम्बन्ध बन गया। उन्होंने दिल्ली से विजय १९१८ में निकाला। आगे चलकर यही अर्जुन और वीर अर्जुन के नाम से निकलता रहा। उन्होने नवराष्ट्र और जनसत्ता का भी सम्पादन किया। १९५१ में जब राजस्थान प्रान्तीय आर्य सम्मेलन

के जयपुर सम्मेलन का अध्यक्ष पं० इन्द्र जी को बनाया गया और उनसे सभापति पद को ग्रहण करने के लिये औपचारिक रूप से निवेदन किया गया, तो रिवाज के मुताबिक मुझे भी इस प्रस्ताव का समर्थन (अनुमोदन) करने के लिये कहा गया। उस समय मैंने पं० इन्द्र जी के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए हिन्दी पत्रकारिता को उनके अवदान का उल्लेख किया। इन्द्र जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में मेरे द्वारा उठाये सूत्र को लेकर अपने पत्रकारिता के अनुभवों को विस्तार से बताया।

प० इन्द्र स्वाधीनता सग्राम के सेनानी और दिल्ली के सार्वजनिक जीवन के विख्यात नेता थे। वे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मत्री तथा प्रधान भी रहे, किन्तु मूलत वे लेखक और साहित्यकार थे। उनकी लेखनी ने इतिहास, धर्म, दर्शन, उपन्यास आदि विविध विधाओ को कृतार्थ किया है। भारतीय इतिहास के अनुशीलन मे उनकी अत्यधिक रुचि थी, इसीलिये उन्होने मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण (२ खण्ड), भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त, तथा भारत के स्वाधीनता सग्राम का इतिहास जैसे मानक ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों में इतिहास की शुष्कता न होकर साहित्यिक सरसता के सर्वत्र दर्शन होते हैं। यद्यपि इन्द्र जी की उपन्यासकार और कथाकार के रूप मे पर्याप्त चर्चा नही हुई किन्तु यह कौन नही जानता कि उनकी लेखनी से प्रसूत अपराधी कौन, शाहआलम की आखें, जमीदार, सरला की भाभी आदि उपन्यासो ने उन्हें हिन्दी कथाकारो मे उल्लेखनीय स्थान दिलाया था।

**जीवनी एव संस्मरणलेखन—** इन्द्र जी की प्रिय विधा तो महापुरुषो के जीवन-चरित प्रणयन तथा सस्मरणलेखन थी। उन्होने नेपोलियन बोनापार्ट, प्रिंस बिस्मार्क तथा इटली के देशभक्त गैरीबाल्डी के जीवन-चरित उस समय लिखे, जब हिन्दी मे इन यूरोपीय राष्ट्रनायको के सम्बन्ध मे कोई सामग्री थी ही नही। भारतीय महापुरुषो मे सम्राट रघु, प० नेहरू तथा राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद पर उनके ग्रन्थ निकले। इसी क्रम मे उनका महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित भी उल्लेखनीय है। वस्तुत: स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्यसमाज के इतिहासलेखन की एक विस्तृत योजना बनाई थी, और इस सम्बन्ध की महत्वपूर्ण सामग्री एकत्र भी की थी। किंतु जब वे शुद्धि-सगठन और स्वतत्रता आन्दोलन मे सर्वात्मना लग गये तो लेखनकार्य के लिए उनके पास अवकाश का अभाव हो गया। उन्होंने स्वपुत्र इन्द्र को यह सामग्री सौपी और उनसे यह वचन लिया कि वे समय निकाल कर आर्यसमाज के इतिहास को पूरा करेंगे। उनका लिखा आर्यसमाज के इतिहास का प्रथम खण्ड तो १९२५ मे स्वामी श्रद्धानन्द के जीवनकाल में ही छपा और इसके आरम्भ मे ऋषि दयानन्द का यह जीवन-चरित लिखा गया है। कालान्तर मे यह पृथक् पुस्तकाकार भी छपा। यो तो स्वामी दयानन्द के हिन्दी मे लगभग १०० जीवन-चरित छपे हैं, किन्तु इन्द्र जी द्वारा लिखे गये इस जीवन-चरित की प्रमुख विशेषता इसका साहित्यिक शैली में लिखा होना ही है। इसमे मात्र घटनाओं का स्थूल विवरण ही नही है, अपितु चरितनायक के

चरित्र के विकास को घटनाओं के परिप्रेक्ष्य मे स्पष्ट किया गया है। 'मेरे पिता' शीर्षक उनके संस्मरण तो मार्मिक हैं ही, साथ ही तत्कालीन आर्यसमाज तथा देश की घटनाओ की वास्तविक जानकारी के कारण उनका ऐतिहासिक महत्त्व भी है। उनके अन्य सस्मरण ग्रन्थो मे मैं इनका ऋणी हूँ तथा मेरे पत्रकारिता सम्बन्धी अनुभव विशेष उल्लेखनीय हैं।

गुरुकुल के प्रथम स्नातक होने के कारण इन्द्र जी का धार्मिक और शास्त्रीय ज्ञान भी उच्चकोटि का रहा। जब वे गुरुकुल के स्नातक बने ही थे तो एक बार उनका महा-महोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी से वर्णव्यवस्था पर शास्त्रार्थ हुआ। प० इन्द्र जी की प्रौढ तर्कशैली तथा विशद् शास्त्रज्ञान ने उन्हे इस शास्त्रार्थ-सग्राम मे विजय दिलाई। प० इन्द्र जी के लिये सामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक विषयों पर लिखना जितना सहज था उतना ही धार्मिक, दार्शनिक और शास्त्रीय विषयो पर भी। जब वे स्नातक बने तो उन्होंने उपनिषदों की भूमिका लिखी, ईशोपनिषद् पर विद्वतापूर्ण टीका लिखी तथा भारतेतिहास शीर्षक सरल अनुष्टुप छदो मे एक संस्कृतकाव्य का प्रणयन किया। राष्ट्रो की उन्नति, राष्ट्रीयता का मूलमंत्र, स्वतत्र भारत की रूपरेखा, राजधर्म, गाधी हत्याकाण्ड, स्वराज्य और चरित्रनिर्माण, आधुनिक भारत मे वक्तृत्व कला की प्रगति आदि उनके अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। जब वे गुरुकुल के छात्र थे तब उन्होने सस्कृत मे उषा नामक हस्तलिखित पत्रिका निकाली और हिन्दी मे सत्यप्रकाशक नामक पत्र निकाला। पत्रकारिता के यही बीज आगे चलकर अकुरित हुए और इन्द्र जी के द्वारा हिन्दी पत्रकारिता का शानदार विकास हुआ। वे पत्रकारो की समस्याओ से भी जुड़े रहे और इसी कारण उन्हे अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन का सभापति बनाया गया। १९४६ मे उन्हे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति बनाने का प्रस्ताव आया था, किन्तु सम्मेलन के आन्तरिक विवादों के कारण यह सम्भव नही हो सका और जयपुर मे सम्पन्न इस अधिवेशन की अध्यक्षता सनातन धर्म के नेता गोस्वामी गणेशदत्त ने की। इस प्रकार ७१ वर्ष की आयु पाकर प० इन्द्र २३ अगस्त १९६० को दिवगत हुए। १९८९ उनका जन्मशताब्दी का वर्ष था। धर्म, साहित्य, संस्कृति और राष्ट्र को इन्द्र जी का अवदान अविस्मरणीय है।

# पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति : पत्रकारिता के अनुभव

—डा० सन्तराम वैश्य
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति के जीवन में पत्रकारिता का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। हिन्दी-पत्रकारिता और पंडित जी दोनों का एक-दूसरे से अटूट सम्बन्ध था और दोनों एक-दूसरे के पर्याय रहे हैं। यदि पंडित जी को हिन्दी पत्रकारिता का भीष्म पितामह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। पत्रकारिता पंडित जी के संस्कारों में थी। इन्हीं संस्कारों के बीच वे उत्पन्न हुए थे। यह एक संयोग ही था कि उनका और 'सद्धर्म प्रचारक' का जन्म एक ही वर्ष हुआ। ८ नवम्बर १८८९ को इन्द्रजी का जन्म हुआ और उसी वर्ष उनके पिताजी ने 'सद्धर्म प्रचारक' नामक पत्र उर्दू में निकाला। इस घटना ने बालक इन्द्र के भविष्य की सूचना दी।

इन्द्रजी को पत्र निकालने की प्रेरणा अपने पूज्य पिता महात्मा मुंशीराम से मिली। प्रेस तो घर में था ही उसका प्रभाव यह पड़ा कि अल्पायु में ही वे पत्र निकालने लगे। इस कार्य में उनके ज्येष्ठ भ्राताश्री हरिश्चन्द्रजी भी सहयोगी रहे। दोनों भाई मिलकर 'सत्यप्रकाश व असत्यनिवारक' नामक हस्तलिखित अखबार निकालते थे। इस पत्र के सम्बन्ध में स्वयं इन्द्रजी लिखते हैं—"हमारे सहोद्योग से तैयार होने वाले उस हस्तलिखित-पत्र पर 'सद्धर्म प्रचारक' और 'सरस्वती' दोनों की छाप रहती थी। हम दोनों उसके लेखक तथा प्रकाशक थे और दोनों पाठक थे। तीसरा कोई व्यक्ति हमारा सहायक नहीं था। जब अवसर मिल जाता तो प्रेस से कुछ कोरे कागज उड़ा लाते और स्कूल से बचे समय में लेख लिखते थे। हम लोग दोआबा हाई स्कूल में शिक्षा पाते थे, मेरी आयु सात वर्ष की होगी और हरिश्चन्द्र की नौ वर्ष की। यह पत्रकारिता का पहला अनुभव था।" उनका यह प्रयास बचपन का मनोविनोद ही रहा होगा, पर इससे उनकी पत्रकारिता के प्रति गहरी रुचि का परिचय मिलता है।

गुरुकुल पहुँचने पर भी उनका यह प्रयास चलता रहा। नवीं कक्षा में आने पर दोनों भाइयों ने अलग-अलग पत्र निकालना प्रारम्भ किया। ये पत्र हस्तलिखित

और सचित्र हुआ करते थे। इनकी भाषा संस्कृत और हिन्दी थी। इन पत्रों के कारण ही बालक इन्द्र मे साहित्यिक रुचि जागृत हुई। आगे चलकर जब गुरुकुल से 'सद्धर्म प्रचारक' हिन्दी मे निकलना प्रारम्भ हुआ तो दोनो भाई उसमे भी लेख लिखने लगे। तब इन्द्रजी 'क्ष' कल्पित नाम से लिखते थे। उस समय की एक घटना का वर्णन इन्द्रजी के ही शब्दों मे – "हमारे एक अध्यापक थे श्री शिवशकर शर्मा 'काव्यतीर्थ'। उन्होने ब्राह्मण-ग्रन्थों पर एक भाष्य लिखा। नये विचारो से युक्त वह अपने ढग की अनूठी चीज थी। उसके विषय मे मैंने 'क्ष' नाम से 'सद्धर्म प्रचारक' में आलोचनात्मक लेख लिखा। पंडित जी ने लिखे लेख को देखा तो क्लास मे उसकी बड़ी कटु आलोचना की। उन्होंने दो सप्ताह बाद उसका जवाब दिया। मैंने फिर उनके जवाब का जवाब लिखा। यों दो-तीन लेखों में मेरी उनसे झड़प हुई। कहीं बात खुल न जाये, इस डर से कुछ समय बाद मैंने लिखना स्वयं ही बन्द कर दिया। इस विवाद से मेरा पत्रकार का दृष्टिकोण बना।"

पत्रकारिता के प्रति ब्रह्मचारी इन्द्र का शौक इतना गहरा था कि छात्रजीवन में ही उन्होने 'सद्धर्म प्रचारक' के सम्पादन का भार उठा लिया। उनका यह अनुभव कैसा रहा, स्वय उन्ही के शब्दो में—"मैं अभी विद्यार्थी ही था, स्नातक नही बना था। दैनिक के सम्पादन का कार्य मैंने अपने जिम्मे लिया। गुरुकुल का प्रेस तो काफी बडा था। गंगा के पार उस वनस्थली में दैनिक पत्र के लिए सामग्री कहाँ से मिलती। तो भी बहुत प्रयत्न करके कुछ दिनो तक—शायद दस दिन तक—'सद्धर्म प्रचारक' का दैनिक सस्करण निकला गया। आर्थिक दृष्टि से वह पूरी तरह घाटे का सौदा था—न स्थानीय बिक्री थी और न एजेन्सियों का प्रबन्ध। बस, इतनी सतोष की बात समझो कि दैनिक सस्करण निकालने के कारण 'सद्धर्म प्रचारक' की ख्याति हो गयी, और मैं यह अनुभव करने लगा कि दैनिक पत्र निकाल सकता हूँ।"

छात्रजीवन मे 'सद्धर्म प्रचारक' का सम्पादन करते हुए उन्हें अन्य कई तरह के भी अनुभव हुए। एक बार प्रूफ सशोधन ठीक न होने के कारण एक लेख गलत छप गया। इससे ब्रह्मचारी इन्द्र को वड़ी आत्मग्लानि हुई। तभी उन्होने निश्चय किया कि—"१—लेख स्पष्ट अक्षरो मे लिखूंगा। २—अंग्रेजी के अक्षर कभी न लाऊँगा। ३—उसे स्वय शोध लिया करूंगा। ४—सरल भाषा मे लिखा करूंगा।"

स्नातक बनने के बाद गुरुकुल मे अध्यापन करते हुए भी इन्द्रजी कुछ दिनो तक 'सद्धर्म प्रचारक' का सम्पादन करते रहे। इसमे लिखे हुए उनके लेख तथा टिप्पणियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण हुआ करती थी। 'सद्धर्म प्रचारक' की टिप्पणियो के कारण ही श्री गणेश-शंकर विद्यार्थी जी इनसे मिलने गुरुकुल पधारे।

इन्द्रजी के ही प्रयास से 'गुरुकुल' नामक दैनिक पत्र निकलना आरम्भ हुआ। आपने इसका एक मास तक सम्पादन करने का भार भी उठाया। सस्कृत की पत्रिका 'उषा' के

सम्पादन का कार्य भी पंडितजी ने ग्रहण किया। इसे उनके भावी दैनिकों के प्रकाशन की भूमिका कहा जा सकता है।

इन्द्रजी का झुकाव आरम्भ से ही समाजसेवा, राजनीति और पत्रकारिता की ओर रहा। बौद्धिक कार्य करने की प्रबल इच्छा उन्हें दिल्ली खींच लायी। यहाँ आकर उन्होंने 'विजय' नामक पत्र निकाला। संभवत: उन्हें इस पत्र को निकालने की प्रेरणा लोकमान्य तिलक और उनके 'केसरी' पत्र से मिली। पत्र निकला और सफल रहा। सफलता का विवरण स्वयं इन्द्रजी के शब्दों में—"पत्र निकला, पत्र छपता था हैम्ड प्रेस पर। पहले दिन ७० कापियाँ बिकीं और वह भी प्राय: हिन्दी पढ़ने वाली लड़कियो ने ही लीं। तीन महीने में उसकी बिक्री १५०० तक पहुँच गयी। आगे चलकर तो इसकी पन्द्रह हजार से ऊपर प्रतियाँ बिकने लगीं। रात-दिन प्रेस चलता था। पत्र इधर छपा नहीं कि हाथों-हाथ लोगो तक पहुँच जाता। पढ़ने वाले बड़ी बेसब्री से पत्र का इन्तजार करते। हिन्दी न जानने वालों ने पत्र पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। जो न सीख सके वे उसे पढ़वाकर सुनने के लिए खरीदते थे। दुकानदारों से लेकर झल्लीवाले और ठेलेवाले तक पत्र पढ़ते थे।" उस समय 'विजय' दिल्ली और पंजाब का पहला हिन्दी दैनिक था, इसलिए दिल्ली मे घर-घर उसकी गूँज थी।

'विजय' से इन्द्रजी को भी बहुत ख्याति मिली। वे उसमे 'नारद' नाम से 'वीणा की झंकार' लिखते थे। उसकी इस झंकार को लोग बड़े चाव से पढते व सुनते थे। इसमें माधुर्य मिला व्यंग्य होता था और साथ ही मनोरंजक ढंग से वर्तमान समस्याओं का समाधान भी। 'विजय' के द्वारा ही इन्द्रजी ने दिल्लीवासियो में नवजागरण का मंत्र फूँका। पर सत्याग्रह आदोलन के साथ जुड़ जाने के कारण इस पत्र को सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। सेन्सरशिप लग गयी और पत्र बन्द हो गया। दो साल बाद यही 'अर्जुन' नाम से निकला।

इन्द्रजी ने इसी बीच 'सत्यवादी' तथा 'वैभव' नामक पत्रों का भी सम्पादन किया। 'सत्यवादी' एक साप्ताहिक-पत्र था जो जनवरी १९ ३ के प्रथम सप्ताह मे दिल्ली से निकला। इस पत्र के जन्म की कथा इन्द्रजी के ही शब्दों में—'पुस्तकलेखन के समाप्त होने पर मैं फिर खाली हो गया। उँगलियाँ लिखने को उतावली थी और चित्त अपने भावों को उगलना चाहता था। परन्तु साधनों का अभाव था। उस लाचारी के अवकाश से लाभ उठाकर मैंने दो पुस्तकें लिखी, परन्तु उससे दिल का बोझ हल्का न हुआ, अन्त में एक साप्ताहिक पत्र निकालने का मनसूबा पक्का किया। दैवयोग से एक सहायक भी मिल गये। प्रसिद्ध दानवीर, सेठ रघुमल लोहिया ने इस रूप में सहारा दिया। उन्होंने अपनी दुकान पर हिसाब खुलवा दिया। आज्ञा दे दी कि एक वर्ष तक दुकान से आवश्यकतानुसार 'सत्यवादी' के लिए परिमित राशि ली जा सकती है।"

'वैभव' दैनिक पत्र था और तेलीवाड़े से निकलता था। इसे भरतपुर के महाराजा को अंग्रेजों के कोप से बचाने के लिए निकाला गया था। अनेक मित्रों के आग्रह पर पंडित जी ने इसका प्रधान सम्पादक बनना स्वीकार किया। पत्र की स्थिति बहुत दयनीय थी। इन्द्रजी के ही शब्दों में—"टाइप बहुत पुराना था, छपाई अच्छी नहीं आती थी, और चार पृष्ठों के लेख प्रतिदिन पूरे नही होते थे। इस कारण दैनिक पत्र सप्ताह में प्राय. दो दिन प्रकाशित हो पाता था।" यह कार्य बालू में से तेल निकालने जैसा था। अतः पंडितजी ने इसे छोड़ दिया। यह उनकी रुचि के अनुकूल भी नहीं था। इस पत्र के सम्पादन से उन्हें एक नया अनुभव मिला। उन्हीं के शब्दों में—"साहसिक कार्य छोटा हो या बड़ा, उसे कभी दूसरे के बलबूते पर आरम्भ न करो। अपने भरोसे पर पार जाने के लिए गंगा में भी कूद पड़ो, परन्तु केवल दूसरे के सहारे का भरोसा रखकर घुटनों तक के पानी में भी पाँव न रखो।"

स्वामी जी के शुद्धि आंदोलन ने 'अर्जुन' को जन्म दिया। २४ अप्रैल १९२३ को इसका पहला अंक निकला। यह उत्तरी भारत का एकमात्र हिन्दी दैनिक था। इसके प्रथम सम्पादक श्री भीमसेन विद्यालंकार थे। यह पत्र न तो किसी का पिछलग्गू था और न ही किसी संस्था का आश्रित। इसके प्रकाशन के समय पंडित जी की क्या स्थिति थी, स्वयं उन्हीं के शब्दों में—'न कुछ मूलधन था, और न कोई साथी। केवल दुस्साहस की पूंजी के सहारे पर दैनिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ कर दिया। पत्र लिखा जाता था श्रद्धानन्द बाजार मे और छपता था लगभग ढाई मील दूर सद्धर्म प्रचारक प्रेस मे, जो इन दिनों परेड के मैदानवाली सड़क पर था।" पर पंडित जी के परिश्रम और लगन से पत्र अच्छा चल निकला। 'अर्जुन' स्वराज्य पार्टी व शुद्धिसभा का प्रवक्ता बन गया। यह महर्षि दयानन्द जन्म-शताब्दी-सभा का संदेशवाहक भी रहा। जैसे-जैसे पंडित जी का कार्यक्षेत्र बढ़ता गया वैसे-वैसे 'अर्जुन' भी उनका सहायक बनता गया। आर्य-समाज और हिन्दीप्रचार में भी इस पत्र ने उनकी बड़ी सहायता की। 'अर्जुन' पंडित जी के संघर्ष के दिनो का भी साथी रहा। यह पत्र 'न दैन्यं न पलायनम्' के ध्येय को लेकर निकला था और कभी भी इस ध्येय से नहीं हटा।

अर्जुन की स्पष्टवादिता और तीखेपन ने सरकार को चौंका दिया। फलतः उस पर प्रहार होने लगे। १९२६ में पहला प्रहार हुआ। इस समय श्री सत्यकाम विद्या-लंकार जी पत्र के सम्पादक थे और इन्द्रजी प्रकाशक तथा मुद्रक। उनकी अनुपस्थिति मे कुछ आपत्तिजनक लेख व समाचार छप गये जिसको लेकर सरकार ने पत्र के सम्पादक व प्रकाशक दोनों पर मुकदमा ठोंक दिया। इन्द्रजी को साढे पाँच साल की सख्त कैद व डेढ़ हजार रुपये जुर्माना की सजा हुई। स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण थोड़े ही दिनो बाद आपको जेल से रिहा कर दिया गया। जेल से छूटते ही पंडित जी पुनः 'अर्जुन' के सम्पादन-कार्य मे लग गये।

'अर्जुन' पर दूसरा प्रहार पूँजीपतियो की ओर से हुआ। अनेक पूँजीपतियों ने धन कमाने के लिए पत्र निकालना प्रारम्भ कर दिया। कई पत्रो के प्रात.कालीन सस्करण निकलने लगे। जबकि 'अर्जुन' अब तक सायकालीन ही था। इन पत्रों की प्रतिस्पर्धा में खड़े रहने के लिए अर्जुन' को भी प्रातःकालीन करना पड़ा। पत्रकारिता मे भी अब पूँजी का प्रवेश बढने लगा था। वह मिशन न रहकर व्यवसाय बनती जा रही थी। ऐसे में पंडित जी के लिए पत्र निकालना बड़ा कठिन हो गया। अनेक बार पूँजीपतियो से 'अर्जुन' की सीधी टक्कर हुई। पहली टक्कर फतेहपुरी के एक होटल मालिक से हुई। 'अर्जुन' ने उसके होटल को व्यभिचार का अड्डा बताया था। बात सही भी थी। इससे तिलमिलाकर होटल के मालिक ने विरोधस्वरूप उर्दू का एक दैनिक पत्र ही निकाल लिया और उसके माध्यम से 'अर्जुन' और आर्यसमाज पर प्रहार करने लगा। हालांकि इसमे जीत अर्जुन की ही हुई। दूसरी टक्कर एक पूँजीपति से हुई। 'अर्जुन' मे उसकी मिल के मजदूरो की शिकायत छप गयी थी। उसमे मिल का सेक्रेटरी बौखला गया। उसने पत्र पर मानहानि का दावा करने की धमकी दी। पर अन्त मे वह अपनी ही हानि के भय से पीछे हट गया।

इस बीच दिल्ली से हिन्दी के दो दैनिक और निकले। अर्जुन को इनसे भी व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा करनी पडी। परिणाम यह हुआ कि पत्र की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल हो उठी। वह घाटे मे चलने लगा। ऐसे मे कर्मचारियो ने भी हड़ताल की धमकी दे दी। पर किसी तरह इस समस्या से छुटकारा मिला। पर पडित जी को अब यह महसूस होने लगा कि बिना कम्पनी बनाये पत्र को चलाना असम्भव है। यही से 'अर्जुन' और पंडितजी के सम्बन्धविच्छेद की भूमिका बनी। उधर 'अर्जुन' पर सरकारी कोप जारी ही थे। उससे बार-बार जमानत माँगी जाती थी। १९३५ मे पत्र मे क्वेटा भूकम्प का समाचार छपा। इससे सरकार चिढ़ गयी। इस बार 'अर्जुन से पाँच हजार की जमानत माँगी गयी। जमानत तो दे दी गयी पर इसके साथ ही 'अर्जुन' का प्रकाशन बन्द कर दिया गया। जमानत की रकम वापस लेने के लिए इसी पत्र का नाम बदलकर 'वीर अर्जुन' के नाम का डिक्लेरेशन दिया गया। सरकार ने इसे 'अर्जुन' का प्रतिद्वन्द्वी समझ कर मजूरी दे दी। इस प्रकार 'अर्जुन' अब 'वीर अर्जुन' के नाम से निकलने लगा। १९४० मे श्रद्धानन्द पब्लिकेशन लिमिटेड की स्थापना होने पर पत्र का स्वामित्व इस कम्पनी को मिल गया। अब यह इन्द्रजी का व्यक्तिगत पत्र न रह गया। पर वे इससे जुड़े रहे। २७ जनवरी १९४६ को इस पत्र की रजत-जयन्ती मनायी गयी। पत्र को शुभकामना सदेश भेजते हुए राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने लिखा था—" 'वीर अर्जुन' की रजत-जयन्ती के अवसर पर उसे मेरी हार्दिक बधाई। पिछले २५ वर्षों मे दिल्ली के प्रभावशाली क्षेत्र - उसने मेरे प्यारे भाई श्री इन्द्रजी की शक्ति पाकर निर्भीकता से देश की सेवा की है और हिन्दी का मान रखा है। यह हिन्दीभाषियो के प्रेम और सम्मान का अधिकारी है। वह चिरंजीवी हो, और इन्द्रजी के करों मे हिन्दीप्रेम का गाण्डीव सदा राष्ट्रीयता की रक्षा करे।"

इस अवसर पर इन्द्रजी ने भी अपने उद्गार व्यक्त किये। उन्होंने अपने सहयोगियों से निवेदन करते हुए कहा कि वे अपने पत्रो को इस प्रकार सर्वांगपूर्ण बनाएँ जिससे कि

पाठकों को किसी अन्य भाषा के समाचार-पत्रों की आवश्यकता ही न रह जाय।" पर इन्द्रजी की यह आशा पूरी नहीं हुई। आजादी के बाद समाचार-पत्रों के दृष्टिकोण मे व्यापक परिवर्तन हुआ। पत्रकारिता धीरे-धीरे व्यवसाय होती जा रही थी। स्वाधीनता-संग्राम में जूझने वाले अनेक पत्र धीरे-धीरे बन्द होने लगे या अपना स्वरूप बदलने लगे। 'वीर अर्जुन' भी इससे अछूता न रहा। ऐसे मे इन्द्रजी के लिए इस पत्र से जुड़े रहना सम्भव न हो सका और उन्होंने इससे सम्बन्धविच्छेद कर लिया। ऐसा उनके विचारों और आदर्शों के सघर्ष के कारण हुआ।

इन्द्रजी ने बम्बई की कई यात्राएँ की थी। उन्होने यह अनुभव किया कि हिन्दी-भाषी जनता के लिए यहाँ से भी हिन्दी का कोई दैनिक निकाला जा सकता है। अपनी इस योजना को कार्यरूप देने के लिए उन्होने वहाँ हिन्दी समाचारपत्र लिमिटेड की स्थापना की। इस कम्पनी के माध्यम से इन्द्रजी ने बम्बई से 'नवराष्ट्र' नामक हिन्दी दैनिक निकाला। १५ जनवरी १६३६ को इसका पहला अंक निकला। कुछ दिनो तक इस पत्र की बडी धूम रही, पर पंडितजी के बम्बई से वापस आने के थोड़े दिनो बाद ही यह बन्द हो गया।

पंडित जी ने कुछ दिनों तक दैनिक 'जनसत्ता' का भी सम्पादन किया। यह कार्य उन्होने अपने एक निकट सम्बन्धी के कहने पर स्वीकार किया। इसकी भी एक लम्बी कहानी है। उन्ही के शब्दो मे—"मुझे चारपाई पर लेटे चार महीने बीत गये थे। चिकने फर्श पर पैर फिसल जाने से मेरी जाँघ की हड्डी टूट गयी थी, जिसने मुझे लगभग ३ मास तक दिल्ली के प्रसिद्ध जोशी अस्पताल मे और एक मास तक घर पर लेटने के लिए बाध्य कर दिया। अभी मैं चारपाई से उठकर अच्छी तरह घूमने-फिरने भी नहीं पाया था कि एक दिन मेरे एक निकट सम्बन्धी महोदय का टेलीफोन आया।

निकट सम्बन्धी महोदय ने टेलीफोन द्वारा मुझे सूचना दी—समाचारपत्रों के एक प्रसिद्ध स्वामी और सचालक एक नये हिन्दी पत्र के लिए प्रधान सम्पादक की तलाश मे हैं। मैंने उन्हे आपका नाम सुझाया है, जिसे उन्होने पसंद भी कर लिया है। सम्बन्धी महोदय ने मुझसे आग्रहपूर्वक कहा कि ये पत्र-स्वामी बहुत सज्जन हैं, राष्ट्रीय विचारो के हैं और बात के धनी हैं। आप अपने स्वभाव के अनुसार उनके प्रस्ताव को रद्द न कर दीजिएगा। मैं उन्हे लेकर आपके पास आऊँगा।"

अगले दिन वे अपने मित्र पूँजीपति महोदय को लेकर मेरे मकान पर आये। मैं सहारा लेकर चारपाई से उठा और बातचीत करने के लिए कुर्सी पर बैठा।

लगभग डेढ़ घण्टे तक बातचीत हुई। पत्रस्वामी ने अपना अभिप्राय यह बतलाया कि वह दिल्ली में अपने अंग्रेजी अखबार के साथ हिन्दी का एक ऐसा दैनिक निकालना

चाहते हैं, जो सर्वसाधारण का प्रिय बन जाये। उसकी ग्राहक संख्या कम-से-कम ३० हजार तक पहुँच जाये। पत्र की नीति राष्ट्रीय हो और भाषा सरल होनी चाहिए। उन्होंने कहा कि मैं आपकी योग्यता और नीति से परिचित हूँ, इस कारण चाहता हूँ कि आप इस आयोजन में मेरी सहायता करें। मेरा यह पत्र हिन्दी-जगत् के लिए लाभदायक होगा।"

पंडित जी ने अपनी कुछ शर्तें रक्खीं, जिन्हें पत्र के स्वामी ने स्वीकार कर लिया। परिणाम यह हुआ कि पत्र निकला और एक ही वर्ष में उसकी १५००० से ऊपर प्रतियाँ छपने लगीं। पर सैद्धांतिक मतभेदों के कारण थोड़े ही समय बाद पंडितजी इससे अलग हो गये।

इन्द्रजी लम्बे समय तक पत्रकारिता से जुड़े रहे। इस दौरान उन्हें कई बार संघर्षों का सामना करना पड़ा। अनेक खट्टे-मीठे अनुभव हुए। पर वे कभी भी अपने ध्येय से पीछे नहीं हटे। उनके पत्रकार-जीवन के अनुभवों का विवरण पं० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' को दिये गए साक्षात्कार मे मिलता है। एक सफल पत्रकार के गुणों के बारे में बात करते हुए पंडितजी ने कहा था—"मेरी सम्मति में पत्रकार किसी भी प्रकार के हों, सफलता उन्ही को मिलेगी, जो स्पष्ट और डाइरेक्ट लिखेंगे। अग्रलेख भी छोटा हो, एक या सवा कालम का। दो-ढाई कालम का अग्रलेख लिखना व्यर्थ है। लिखते समय पत्रकार को ग्राहक का हृदय पकड़ने की कोशिश करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि पत्रकार के लिए अपनी सम्मति की स्वतन्त्रता को बनाना भी आवश्यक है। क्योंकि ग्राहक ऐसे प्रभावशाली पत्रकार का आदर करते हैं, जो निर्भीकता से सत्य का समर्थन करें। तीसरी बात यह है कि वह जो सम्मति बनाये, खूब सोच-समझकर बनाये और अन्त तक उस पर दृढ़ रहे। कारण, वह जनता का सच्चा पथप्रदर्शक है और चंचल बुद्धि होने से वह जनता का विश्वास खो बैठेगा। चौथी बात है, उसका निष्पक्ष होना। उसे किसी पार्टी का वकील नही बनना चाहिए। ऐसा करने से वह संतुलन खो देगा। और सतुलन खो देना पत्रकार की सफलता मे सबसे बड़ी बाधा है। विदेशों में पत्रकार का स्थान मिनिस्टरों के बराबर माना जाता है। मैं तो उसे मिनिस्टर से भी ऊँचा मानता हूँ। क्योंकि मिनिस्टर सरकार की नीति से बंधा हुआ है और पत्रकार सर्वथा स्वतन्त्र रहता है। जो पत्रकार वकील की तरह चाहे जिस पार्टी का प्रचार करने लग जाता है, वह पत्रकारिता के स्तर को नीचा करता है। यदि यही होता रहा और पत्रकार की स्वतन्त्रता लुप्त हो गयी, तो पत्रकारिता की अन्त्येष्टि समझनी चाहिए। मेरी सम्मति में सफल पत्रकार वही हो सकता है, जो निर्लोभी और तपस्वी हो। इसलिए तपस्या सफलता का मूल आधार है।"

पंडित जी पत्रकारिता को व्यवसाय बनाये जाने के खिलाफ थे। उनका कहना था—"पत्र तो जनता का शिक्षक होता है और वह लोकमत बनाता है। यदि हमने उसे धनोपार्जन का साधन बना लिया तो उससे समाज का अहित भी हो सकता है। "पत्रकारिता के बदलते

दृष्टिकोण से पंडित जी बड़े दुखी थे। उनके देखते ही देखते कितने पत्र पूँजीपतियों के गुलाम या राजनीतिक पार्टियों के प्रचारक बन गये। कितने ही पत्रकारों ने प्रलोभन के कारण अपना ईमान बेच दिया। जो स्वाभिमानी थे वे या तो इस क्षेत्र से हट गये या अपनी आत्मा की आवाज को दबाकर किसी तरह घिसटते रहे। पर पंडितजी ने न तो कभी अपनी आवाज दबायी और न स्वाभिमान ही बेचा। वे किसी पूँजीपति के गुलाम भी नहीं बने। परिणाम यह रहा कि निरन्तर आर्थिक कष्ट भोगते रहे। तीस साल की पत्रकारिता में एक पैसा भी नही बचा सके। जो कुछ कमाया उसे सरकार ले गयी। पर आत्मिक सन्तोष जरूर मिला। वे अपने मिशन में सफल हुए। उन्होंने अपनी कला से हिन्दी-पत्रकारिता को न केवल सँवारा-निखारा बल्कि उसे गौरवान्वित भी किया। हिन्दी-जगत् इसके लिए उनका हमेशा ऋणी रहेगा।

———

# पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति की इतिहास-चेतना

—डा० जबरसिंह सेंगर
प्रा० भा० इतिहास विभाग
एवं
प्रभातकुमार विद्यालंकार (शोधछात्र)

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति १९०२ में गुरुकुल में प्रविष्ट होकर अपने पूज्यपिता श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के चरणों मे बैठकर चौदह वर्ष शिक्षा प्राप्त कर, यहाँ के यशस्वी स्नातक बने। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति के रूप मे उन्होने एक आदर्श गुरुकुल बनाने मे योगदान दिया। वे प्रशासनकार्य के साथ-साथ लेखनकार्य मे अधिक रुचि रखते थे। पाश्चात्य इतिहास लेखको ने भारतवर्ष के इतिहास को जिस प्रकार तोड़-मरोड़ कर लिखा, हमारी छबि को धूमिल करके प्रस्तुत किया, उससे प० इन्द्र जी क्षुब्ध थे। इसी कारण उन्होने ऐतिहासिक ग्रन्थो की रचना की। वैसे तो इनकी रचनाये लगभग ५० हैं। पर ऐतिहासिक ग्रन्थो मे मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण भाग १–२, ३–४ (दो ग्रन्थ) तथा भारतीय स्वाधीनता सग्राम का इतिहास प्रमुख हैं।

प० इन्द्र जी अकबर की नीतियो के प्रशसक थे। उन्होने लिखा है— "१५६३ में बादशाह शिकार के लिये मथुरा गया। वहाँ उसे बतलाया गया कि जितने हिन्दू तीर्थों पर जाते हैं, उनसे विशेष कर वसूल किया जाता है। अकबर को ऐसा कानून बिल्कुल वाहियात प्रतीत हुआ। उसने अपने वजीर को हुक्म दिया कि हरेक आदमी को अपने ढग पर भगवान की पूजा करने का अधिकार है……।"[1]

इसी इतिहास के ग्रन्थो मे औरंगजेब की हिन्दू विरोधी नीतियो पर प० इन्द्र जी ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। जजिया कर, हिन्दू धार्मिक स्थलो का मुस्लिमीकरण, सिक्खो का शोषण पर पडित जी ने विशद व्याख्या की है। एक स्थान पर "मुगल साम्राज्य के विनाश के कारणो पर प्रकाश डालते हुये हमे सिख-धर्म के रूपपरिवर्तन के इतिहास पर विशेष ध्यान देना चाहिये। इस परिच्छेद मे हम गुरुओं के जीवनो की अन्य घटनाओं पर विशेष ध्यान न देकर इस परिवर्तन की ही विस्तृत विवेचना करना चाहते हैं। परिवर्तन और

१– मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण, भाग १– प इन्द्र जी, पृष्ठ ३४

उसके कारणों का मुगल साम्राज्य के क्षय से विशेष सम्बन्ध है।"[1] मराठो में शिवाजी के कार्यों एवं उनके व्यक्तित्व को उभारा है— "एक ही समय मे भारतभूमि ने दो असाधारण पुरुष पैदा किये— एक दिल्ली के राजसी प्रसाद मे, दूसरा पूना की झोंपड़ी में। एक धन-जन सुरक्षित साम्राज्य का स्वामी था— दूसरा केवल अपनी तलवार का। दोनो के कारनामो की ऐसी टक्कर हुई कि भारत का नक्शा पलट गया।"[2] एक स्थान पर पंडित जी ने मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण नामक पुस्तक में लिखा है— "दिल्ली की नपुंसकता का अनुमान तो लगाइये कि जब तक नादिरशाह ने लाहौर पर कब्जा नहीं कर लिया तब तक मुहम्मद शाह को यह विश्वास नही आया कि उत्तर की ओर से कोई खतरा आ रहा है।"[3] पंडित जी की लेखनी मे इतिहास लिखते समय सतुलन का आभास मिलता है, तथ्यो को पर्याप्त स्थान मिला है।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास लिखते समय पं० जी ने आर्यजनो को काफी हाईलाइट करने का प्रयास किया है। लाला लाजपतराय की अनेक घटनाओं को छुआ गया है। पंजाब का वन्देमातरम् निम्न स्वतंत्रताघोष बन गया था—

"पगड़ी संभाल ओ जट्टा, पगड़ी संभाल ओ
माझे दे जोर नाल और मालवे दे शौर नाल
कदी नइयो हारना।"[4]

लाला हरदयाल के विषय मे लिखा है— "लाला हरदयाल ने ब्रिटिश शासन और भारत मे ब्रिटिश सस्थाओ के इतिहास को मौलिक सरकारी कागजो मे पढा था, जिससे वे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि अंग्रेज लोग जानबूझ कर भारतवासियो का अग्रेजीकरण कर रहे हैं, ताकि उनकी राष्ट्रीयता नष्ट हो जाये……।"[5]

पंडित जी ने आर्य स्वतन्त्रतासेनानी की राष्ट्रभक्ति एव अंग्रेजों की नियत को लेखनी द्वारा प्रकट किया है। उन्होने लिखा है कि अग्रेजो की नियत देखकर ही वे मुसलमानो की ओर झुके थे। श्री जिन्ना को वे धार्मिक और राजनैतिक विचारों की दृष्टि से विवादास्पद व्यक्ति मानते थे।[6] जिन्ना की जिद ने पाकिस्तान की स्थापना की। प० इन्द्र जी इस पर प्रकाश डालते हुये लिखते हैं—

१– मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण, भाग १— पं० इन्द्र जी, पृष्ठ २८८
२– उपरोक्त, पृष्ठ ३६८
३– मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण, भाग ३–४, पृष्ठ १२८
४– भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम का इतिहास— प० इन्द्र जी, पृष्ठ ११३
५– भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास— प० इन्द्र जी, पृष्ठ १३४
६– भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम का इतिहास— प० इन्द्र जी, पृष्ठ ३११

"महात्मा जी विभाजन को एक आध्यात्मिक दुर्घटना मानते थे……मेरे निकटतम मित्रों ने जो कुछ किया है या वे जो कुछ कर रहे हैं, उससे मैं सहमत नहीं हूं।……… हमारे ३२ वर्षों के सत्याग्रह संग्राम का यह लज्जाजनक परिणाम है।"[1] इस प्रकार से प० जी ने स्वतन्त्रता सग्राम पर विस्तार से एव प्रत्येक पहलू को स्पर्श कर लिखा है।

पंडित जी संसद् सदस्य भी रहे। एक बार गुरुकुल में माननीय राजेन्द्रप्रसाद जी पधारे थे, उनकी व्यवस्था एवं कानून-व्यवस्था प० इन्द्र जी ने स्वयं गुरुकुल के आचार्यों एवं ब्रह्मचारियों द्वारा कराई थी। इस पर श्री राजेन्द्रप्रसाद जी ने एक पत्र पं० इन्द्र जी को लिखा कि दीक्षांत के समय जब गुरुकुल मे आये तो बहुत सुन्दर अनुशासन, यहाँ के व्यक्तियों का त्याग एवं उन्हे जो आदर एव आतिथ्य दिया गया, उसका आभार पत्र द्वारा भेजा है। कृपया देखें पत्र का छपा हुआ ब्लाक। प० इन्द्र जी की लेखनी एव वाणी मे वह कमाल था कि इस गुरुकुल के दर्शन को बड़े-बड़े राष्ट्रनेता तड़पते थे— उसी शृंखला मे जवाहरलाल नेहरू, डा० राधाकृष्णन आदि अनेक नेता प० इन्द्र जी के बुलाने पर पधारे थे। प० इन्द्र जी ने अपनी लेखनी द्वारा जो ऐतिहासिक सामग्री दी वह अमर रहेगी और आगे आने वाली पीढ़ी लाभान्वित होगी।

पंडित जी के समय १-८-१९५८ को पं० जवाहरलाल नेहरू पधारे थे। उन्होने स्वयं गुरुकुल देखने की इच्छा जाहिर की थी, परिणामस्वरूप प० इन्द्र जी ने उन्हे बुलाया—उनके स्वागतभाषण के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं—

"Respected Pandit Ji,

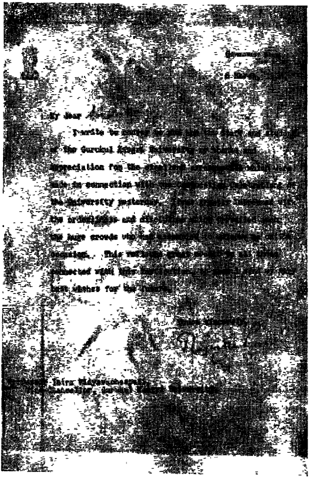
Before the advent of independence when you last visited the Gurukula, you had expressed a wish to be here and pass some time amongst us We have been waiting for the time to welcome our great leader, the helmsman of free India, for the last ten years."

इसके बाद पंडित जी ने गुरुकुल शिक्षाप्रणाली के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुये कहा—

"It might be that the ovation accorded by us may not be so pompous from the point of worldly splendour, but we assure you that it is in no way wanting in cordial love and

---

१- भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास— पं० इन्द्र जी, पृष्ठ ४०१



My dear [illegible],

I write to [illegible] of the Gurukul Kangri [illegible] appreciation for the [illegible] made in connection with [illegible] the University yesterday. [illegible] the principles and [illegible] the huge crowds [illegible] occasion. This [illegible] connected with [illegible] best wishes for the [illegible].

[illegible]

Indra Vidyavachaspati,
[illegible] Gurukul [illegible]

high regard. We also assure you that inspite of the paucity of our means we are engaged in the synthesis of East and West, ancient and modern knowledge and in the development of national education. In the first fifty years this institution was run on public donation without any monetary help from the Government. Due to political and economic factors that help has been reduced to a negligible extent and the help which we are getting from the National Government is utterly inadequate, but the workers of the Gurukula are determined to keep the flame of knowledge burning in accordance with their ancient traditions We have been very much encouraged in our determination with your visit to inaugurate the Vijnan Bhawan. The hopes, not only of our country but also of the whole world, are centred upon you. The peace of the world is being threatened with the rivalries of great nations. This thought fills us with pride that our leader is playing the role of a peace making angel to avert the atomic armageddon of the mankind."

इस प्रकार से पडित जी का शिक्षाविद् के नाते चहुँमुखी लेखनकार्य फलता-फूलता रहा है। साथ ही गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय एव उसके विभिन्न विभागो को सुदृढ बढाने मे भी वे हमेशा चिन्तनशील रहते थे।

---

# इन्द्र जी की संस्कृत-साहित्यानुशीलन की ऐतिहासिक दृष्टि

—डा० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता, दर्शन शास्त्र
गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय

संस्कृत-साहित्य का अनुशीलन विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से करने का प्रयास किया है, किन्तु श्री इन्द्रजी के अनुशीलन का दृष्टिकोण उन सबसे सर्वथा विलक्षण है। संस्कृत-साहित्य के इतिहासविद् प्रायः यह जानने का प्रयास करते हैं कि कवियों का आविर्भाव किस क्रम से हुआ? वे किस काल में और किस स्थान पर जन्मे, कहाँ रहे, क्या-क्या रचना की, उनके काव्यों की क्या विशेषताएँ है और उनकी विषयवस्तु क्या है? अत्यल्प शोधकर्त्ताओं ने यह विचार किया है कि कवियों की काव्यरचना की आधारभूमि क्या है। वे कौन-सी परिस्थितियाँ थी जिन्होंने उस-उस काव्यविधा को दिशा में अग्रसर होने के लिये कवि को विवश किया। यह चिरन्तन सत्य है कि राजनीतिक और सामाजिक परिवेश किसी भी साहित्यकार को जाने-अनजाने अपने में जकड़ लेता है। वह उससे बाहर जा ही नहीं सकता। वह जो कुछ लिखता है वह तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना का जीवन्त चित्र हुआ करता है। श्री इन्द्रजी ने संस्कृतकवियों के उसी ऐतिहासिक आधार को खोजकर पाठकों के समक्ष उपस्थापित किया है जिन्होंने उस कवि को विशिष्ट रस, भाव और विषयवस्तु का विशिष्ट कवि बनाया। उनकी पारदर्शिनी ऐतिहासिक दृष्टि अनेक नूतन तथ्यों का उद्घाटन करती है।

## संस्कृत-साहित्य का आधार

संस्कृत-साहित्य की रचनाएँ तीन रूपों में उपलब्ध होती है—१-पद्यरूप में, २-गद्यरूप में, और ३-सूत्ररूप में। श्री इन्द्रजी की मान्यता है कि उक्त तीनों ही प्रकार की रचना का मूल आधार वेद ही है। वेदों में गद्यपद्यमयी रचना प्रचुरता में पायी जाती है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर गद्यमयी रचना मिलती है। जैसे—

> अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा मोदाय स्वाहा
> सवित्रे स्वाहा······वरुणाय स्वाहा—यजु० २२।६
> इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणा मश्नाति
> य पूर्वोऽतिथेरश्नाति—अथर्व० ६।६

**पद्य**—संस्कृत-साहित्य के अर्वाचीन पद्यसाहित्य का आधार वेदों का संहिता भाग है। इसके दो प्रमाण हमारे पास हैं। एक है विचारों की उद्भावना और दूसरा है—छन्दों की बनावट। प्रायः कवियों की पद्यमयी रचनाओं मे आचार एवं धर्मसम्बन्धी उच्च आदर्श की बहुलता प्राप्त होती है। किसी भी अर्थान्तरन्यास और सुभाषित को इस तथ्य के प्रमाण-रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। इसका कारण यही है कि वेद आदिकाव्य धर्मपुस्तक है। धर्मपुस्तक के आदिकाव्य होने का ही यह लाभ है कि हमारी काव्यवाटिका मे आचार और धर्म का गौरवस्थान है।

अर्वाचीन कवियो के काव्यो मे प्रकृतिवर्णन को एक विशिष्ट स्थान दिया गया है। प्रकृतिप्रेम की यह प्रेरणा कवियो ने वेदो से ही अर्जित की है। "वेद में सूर्य, चन्द्र, नदी, उषा आदि प्रकृति के मनोहारी दृश्यो का ऐसा तात्त्विक वर्णन है कि शायद ही उसका समकक्ष वर्णन कही मिल सके।"—(स०सा० का ऐ०अ०पृष्ठ ४)

छन्दोरचना की दृष्टि से भी वेद अर्वाचीन संस्कृत पद्यो का पिता कहा जा सकता है। लौकिक पद्यो मे जो अनुष्टुप् छन्द पाया जाता है वह वेद के ही अनुष्टुप् छन्द का थोड़ा-सा परिवर्तित रूप है। एक उद्धरण देखिये—

> तत्सु नो विश्वे अर्य आ सदा गृणन्ति कारवः।
> बृबुं सहस्रसातमं सूरिं सहस्र सातमम्॥ ऋ० ६।४।४६।३३

इस मन्त्र के प्रथम और तृतीय पद के सातवे वर्ण को लघु के स्थान पर गुरु कर देने से और दूसरे तथा चौथे पद के तीसरे वर्ण को भी लघु की जगह गुरु कर देने से लौकिक अनुष्टुप्-छन्द तैयार हो जायेगा।

इसी प्रकार वेद के त्रिष्टुप् छन्द का ही थोड़ा-सा रूपान्तरित उपजाति है। जगती और वंशस्थ छन्द भी बहुत समानता रखते है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि लौकिक छन्दोविधान वेदवाणी का ऋणी है।

**गद्य**—ब्राह्मणग्रन्थ गद्य मे उपनिबद्ध हैं। लौकिक गद्यसाहित्य ब्राह्मणग्रन्थो का अनुकरण करके ही रचा गया है। ऐतिहासिक क्रम में ब्राह्मणग्रन्थों का स्थान वेदो के ग्रंथन के शताब्दियो पश्चात् आता है। वेदो की ज्ञानकर्ममय उपासना का स्थान ब्राह्मणग्रन्थो के कर्मप्रधान धर्म ने ले लिया। और जीवन पद्यमय से गद्यमय हो गया। पद्य की अपेक्षा गद्यरचना के लिये कवि को कुछ अधिक व्यवस्थित, स्थिर और शान्तचित्त की आवश्यकता होती है। इससे पता चलता है कि ब्राह्मणकाल मे आर्य जाति उत्तर भारत मे अच्छी प्रकार व्यवस्थित हो चुकी थी।

"लौकिक गद्यरचना का आधार ब्राह्मणग्रन्थो की भाषा है" यह सिद्ध करने के लिये तीन हेतु हमारे पास हैं। प्रथम तो यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा मे कर्त्ता, कर्म और करण के पौर्वापर्य का नियम नहीं है। यही नियम लौकिक गद्यमयी रचनाओ मे भी पाया जाता है। दूसरा हेतु यह है कि लौकिक गद्य-पद्य मे प्राय: क्रिया को अन्यथा गतार्थ कर दिया जाता है। जैसे –

"अयमेव चानास्वादित विषय रसस्य ते
काल उपदेशस्य"—कादम्बरी

यहाँ अस्ति क्रिया लुप्त है। इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थो मे भी यही प्रवृत्ति पायी जाती है। जैसे—

"जागता हि पशव:"
यहाँ 'भवन्ति' पद उड़ा दिया गया है।
'बर्हिर्वै पशु:'

यहाँ 'उच्यते' क्रिया अन्यथा गतार्थ है। तीसरा हेतु है कि दोनों गद्यों मे उपसर्गों का भरपूर प्रयोग प्राप्त होता है। इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थ लौकिक गद्य का आधार सिद्ध होते हैं।

सूत्र—भारतीय दर्शनशास्त्र के मौलिकग्रन्थ सूत्रशैली मे उपनिबद्ध मिलते हैं। यह सूत्र-रचना भी ब्राह्मणग्रन्थो मे ही प्रारम्भ हुई है। ब्राह्मणग्रन्थो मे सूत्ररूप मे विधि निषेध और अर्थवाद पाये जाते हैं। उन्ही के रूप को परिशोधित कर लौकिक सस्कृत साहित्य में सूत्ररचना का विकास हुआ।

## उपनिषद् काल –

ब्राह्मणकाल और अर्वाचीन संस्कृतसाहित्य के मध्य जो साहित्य है वह उपनिषद् साहित्य कहलाता है। ब्राह्मणों का यज्ञवाद कुछ शिथिल हुआ और उसका स्थान उपनिषदो के ज्ञानकाण्ड ने ले लिया। इस दिशा मे ब्राह्मण जाति के लोग ही नहीं, अपितु क्षत्रिय राजा भी झुकने लगे थे। प्रवाहण, अजातशत्रु, जनक, विश्वामित्र आदि इसके उदाहरण हैं। उन्होने सोचा कि ब्रह्मज्ञान के बिना यज्ञात्मक धर्म अधूरा है। इन्द्रजी के अनुसार उपनिषदों की भाषा प्राय: पद्यात्मक है। ये उपनिषदें ही साहित्य की दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों और अर्वाचीन सस्कृत-साहित्य को जोड़ने वाली बीच की कड़ी हैं।

## रामायण के विषय में नवीन दृष्टि

उपनिषदो के पश्चात् अर्वाचीन साहित्य का युग प्रारम्भ होता है। इस युग का प्रथम महाकाव्य वाल्मीकि-रामायण है। प्राचीन साहित्य और नवीन साहित्य मे पर्याप्त

भेद है। प्राचीन साहित्य में अनुष्टुप् छन्द का जो रूप था वह एक नवीन रूप को धारण कर लेता है। कुछ नये छन्द भी नवीन साहित्य मे स्थान पा लेते हैं जो प्राचीन साहित्य में नही थे। क्रियाओं का प्रयोग भी पहले से अधिक होने लगा। दूसरा भेद विषय का है। वैदिक साहित्य की विषयवस्तु धार्मिक होती थी। अब लौकिक विषयो पर काव्यो की अधिकता होने लगी। अतिशयोक्ति की प्रचुरता भी लौकिक काव्यो मे प्राचीन की अपेक्षा अधिक पायी जाती है। एक बहुत बडा भेद आशावाद और निराशावाद का भी है। पाश्चात्य विद्वानो की दृष्टि मे प्राचीन वैदिक साहित्य आशावादी है जबकि अर्वाचीन साहित्य मे निराशावाद की प्रधानता है। किन्तु इस भेद को इन्द्रजी नही मानते। आशा और निराशा दोनो ही मे है। उनके अनुसार "उपनिषद् ग्रन्थो मे भी कही-कही जीवन का बडा निराशा-मय चित्र खीचा है……दूसरी ओर वाल्मीकि, कालिदास तथा भारवि आदि कवियो के वाक्यो मे जो आशा की झलक है वह किसी से छुपी नही है।"

अर्वाचीन साहित्य का प्रारम्भ वाल्मीकि रामायण से माना जाता है और उसे आदिकाव्य कहा जाता है। श्री इन्द्रजी इसे स्वीकार नही करते। लोकप्रसिद्धि द्वारा प्रायः यह बतलाया जाता है कि—

> मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वती. समाः।
> यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

यह श्लोक नवीन शैली का पद्य है। इससे पहले इस शैली का पद्य कोई नही था। इस मत को दूषित करते हुए इन्द्रजी कहते हैं कि यह कहना निस्सन्देह अशुद्ध है। "ऐतरेय ब्राह्मण मे शुन शेपोपाख्यान की कविता मे सर्वथा अर्वाचीन अनुष्टुप् पद्य का प्रयोग किया गया है।" उदाहरणार्थ लीजिये—

> नन्विम पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न।
> किं स्वित् पुत्रेण विन्दन्ते तन्म आचक्ष्व नारद॥

श्री इन्द्रजी का तर्क समझ मे आता है। भला यह कहाँ का तुक है कि पहली बार लौकिक वृत्तान्त के वर्णन के लिये कविता बने और वह महाकाव्य का रूप ले ले। निःसन्देह "लौकिक विषयो की ओर प्रवृत्ति चिरकाल तक रही होगी, तभी अन्त मे महाकाव्य तक नौबत पहुँची। इसलिये यह मानना आवश्यक-सा प्रतीत होता है कि रामायण महाकाव्य के निर्माण से पूर्व छोटी-छोटी लौकिक इतिवृत्तविषयक गाथाएँ देर तक बनती रही होगी।" (स० सा० का ऐति० अनु०, पृष्ठ १७)

## लौकिक विषयता का कारण

स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा होती है कि वैदिक-साहित्य की विषयवस्तु तो सर्वथा धार्मिक और यज्ञप्रधान थी, वह अर्वाचीन साहित्य मे आकर लौकिक विषयो की ओर कैसे

मुड़ गयी ? श्री इन्द्रजी इस परिवर्तन का कारण ऐतिहासिक घटनाओं को मानते हैं। इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय क्षत्रियो का वर्चस्व बढ रहा था। क्षत्रिय नरेश युद्धों में विजय प्राप्तकर आनन्दमग्न रहते थे। "सामाजिक दशा मे क्षत्रियों को मुख्यता मिल रही थी। उसका साहित्य पर प्रभाव पड़ा। वाल्मीकि रामायण के नायक राम क्षत्रिय थे। बलवान् राजाओं के शासनकाल में समाज की दशा बलवती थी। प्रजा सुखी थी। सुख के क्षणों में ही शृंगार-आदि रसो से मिक्त स्वच्छन्द कविता का सृजन होता है। इसी कारण साहित्य धर्म की सीमाओ से निकलकर, पारलौकिक नियमो को छोडकर लौकिक विषयो की ओर झुका। सरस्वतीदेवी प्राय. विजय की देवी का अनुसरण करती है। विजय की अवस्था मे लौकिक विषयों पर ही कविता रची जाती है। रामायण और महाभारत दोनों काव्य इस बात का प्रमाण हैं।

रामायण और महाभारत के पश्चात् बौद्धधर्म के अविर्भाव और विकास का काल आता है। गौतमबुद्ध ने एक ऐसे सरल और सुबोध्य धर्म का प्रचार किया जिसने जनता को अपने विचारो से पर्याप्त प्रभावित किया। बौद्धधर्म का प्रचार जिस धर्म के विरुद्ध था, उसे ब्राह्मणधर्म कह सकते हैं। ब्राह्मणधर्म के प्रामाणिकग्रन्थ चूँकि संस्कृत मे थे, इसलिए सर्वसाधारण के लिए उनका समझना सुगम नही था। बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार संस्कृत मे नही, अपितु देशभाषा मे किया जिसे हम प्राकृत कहते हैं। इसीलिए साहित्यिक दृष्टि से बौद्धकाल का विशेष महत्व नही है। सम्राट अशोक ने बौद्धधर्म का बहुत प्रचार किया। धर्म का विस्तार तो हो गया किन्तु राज्य का कार्य शिथिल होने लगा। इन्द्रजी का मत है कि "शस्त्रधारी ब्राह्मण तपोवन को दूषित कर देता है और मुनिवृत्ति क्षत्रिय राज्य को शिथिल कर देती है"। उनके अनुसार अशोक ने राजकाज मे श्रमणता लाकर चन्द्रगुप्त का स्थापित किया हुआ राज्य चौपट कर डाला। इस युग मे बौद्धग्रन्थो के अतिरिक्त कोई सस्कृत-काव्य नही रचा गया।

अशोक की मृत्यु के पश्चात् भारतीय इतिहास मे पाँच सौ वर्षों का समय शासन और साहित्य की दृष्टि से शिथिलकाल कहलाता है। इस काल मे विदेशी आक्रमण होते रहे और भारतीय सम्राट् उन्हे परास्त करते रहे। ईसा से २७२ वर्ष पूर्व अशोक की मृत्यु के पश्चात् राजा पुष्यमित्र ने शुँगवश की नीव डाली। इसके राज्य मे एक महत्त्वपूर्ण घटना यह हुई कि महर्षि पतजलि ने उसके शासनकाल में अपना महाभाष्य पूर्ण किया। महाभाष्य से प्रतीत होता है कि उस समय साधारण शिल्प का कार्य करने वाले या रथ चलाने वाले लोग भी सस्कृत बोला करते थे। पुष्यमित्र के बाद भारत की राज्यशक्ति बिखरती चली गई। वह एक स्थान पर समूहरूप से न रह सकी। इसीलिए साहित्य की विशेष उन्नति न हुई। इस काल मे केवल एक ही महत्त्वपूर्ण काव्य लिखा गया, जिसे बुद्धचरित कहा जाता है। यह अश्वघोष का महाकाव्य है। इन्द्रजी के अनुसार "बुद्धचरित में व्याकरण और छन्दशास्त्र की दृष्टि से हम सर्वथा नवीन ढग की रचना पाते हैं, परन्तु

भाषा और भाव वैसे परिमार्जित नहीं हुए, जैसे कालिदास के ग्रन्थों में मिलते हैं। फिर भी इसकी रचना बहुत सरल है जो अपनी प्राचीनता की दुहाई दे रही है"।

ईसा की चौथी शताब्दी के आरम्भ होने के साथ भारत में साम्राज्यकाल का प्रारम्भ होता है। इस काल मे राजकाज की शिथिलता समाप्त होती है तथा नया जीवन प्रारम्भ होता है। इस युग मे धनुष की टकार के साथ सरस्वती की वीणा की झकार भी सुनाई देती है। यह वह समय था जिसमे एक ओर भारत राजनैतिक दृष्टि से उन्नत था और साथ ही साथ साहित्य की दौड़ मे भी बाजी मार रहा था। इसी युग में कालिदास, विशाखदत्त, दण्डी, शूद्रक और भारवि जैसे पद्यकवि हुए तथा दूसरी ओर बाण, सुबन्धु, भर्तृहरि, श्रीहर्ष और भवभूति जैसे महान् गद्यकवि भी हुए। विष्णुशर्मा का पञ्चतन्त्र और महाकवि भास के प्रतिमा, दूत घटोत्कच, प्रतिज्ञा, यौगन्धरायण आदि सरल नाटक भी प्रादुर्भूत हुए। इन्द्रजी की मान्यता यह है कि पञ्चतन्त्र और भास के नाटकों की कथावस्तु यह बताती है कि वह समय राजनीतिक दावपेंचो का युग था। दूसरी ओर कालिदास, दण्डो, भारवि और भवभूति की रचनाओं से ज्ञात होता है कि वह समय वैभव, हास-परिहास और श्रृंगारप्रियता का भी युग था।

इस प्रकार साम्राज्यकाल के काव्यो मे जो ओज वीर्य, अत्युक्ति अलकार और छन्दो का सौष्ठव मिलता है वह तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियो के अनुकूल ही है। इन्द्रजी ने संस्कृत के अर्वाचीनकाल को तीन भागो मे विभक्त किया है—साम्राज्यकाल का साहित्य, मध्यकाल का साहित्य और पराधीनताकाल का साहित्य। प्रत्येक काल के साहित्य मे उस समय की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ मुखर हो उठी हैं। साम्राज्यकाल की समाप्ति सातवी सदी तक हो जाती है। पराधीनता का काल ग्यारहवी सदी से प्रारम्भ होता है। बीच का समय मध्यकाल माना जाता है। इन्द्रजी की मान्यता है कि साम्राज्यकाल की समाप्ति पर जब भारत का गौरव छिन्न-भिन्न होने लगा तो शायद भवभूति की इन पक्तियों मे उसी अध.पतन की चिन्ता दिखाई दे रही है—

> पुरा यत्र स्रोत पुलिनमधुना तत्र सरिता
> विपर्यासं यातो घन विरलभाव. क्षिति रुहाम्।

**मध्यकाल—**

मध्यकाल के मुख्य कवि हैं माघ, भट्टनारायण, राजशेखर, पद्मगुप्त, क्षेमेश्वर, बिल्हण, दामोदर मिश्र, कृष्ण मिश्र, श्रीहर्ष, सोमदेव, जयदेव और क्षेमेन्द्र। इन कवियो के साहित्य की जो समालोचना इन्द्रजी ने की है वह सत्य प्रतीत नहीं होती।

इस काल के साहित्य मे इन्द्रजी ने चार दोष आरोपित किये हैं। "१–एक तो साम्राज्यकाल के जो दोष थे वे निरन्तर बढते जाते हैं, अत्युक्ति अस्वाभाविक दशा तक पहुँच जाती है। २–लम्बे-लम्बे समस्त पद काव्य की शोभा को बिगाडने लगते हैं। बाण और सुबन्धु की बीमारी हर जगह घर कर जाती है। ३–श्रृगाररस, जो साम्राज्यकाल मे प्रतिक्रियामात्र था जब लम्पटता के रूप में प्रकट होकर साहित्य की रग-रग में व्याप्त हो

जाता है। ४–इसी समय साहित्य पर भी अलंकारशास्त्र की बेड़ियाँ पड़नी प्रारम्भ हो जाती हैं जो धीरे-धीरे साहित्य की स्वच्छन्द वृद्धि को वैसे ही बाँध देती हैं जैसे भाषा को व्याकरण ने बाँध दिया था।"

उक्त चारो ही आरोप उचित प्रतीत नही होते। जिन रसज्ञों ने श्रीहर्ष का अध्ययन किया है वे उनके नैषध को मधुवर्षी-काव्य कहते है। नैषध मे अत्युक्तियाँ अवश्य हैं किन्तु वे अस्वाभाविक नही लगती। भट्टनारायण के वेणीसहार मे और माघ के शिशुपालवध में कही भी लम्बे समस्त पद नही हैं। शृंगार-रस भी सयत है और अलंकारों का प्रयोग भी मनोहारी है।

**पराधीनकाल—**

श्री इन्द्रजी ग्यारहवी सदी से प्रारम्भ होने वाले अर्वाचीन साहित्य के काल को पराधीन-काल और अन्धकार-काल कहते हैं। इस काल मे आपसी फूट के कारण भारत की राजनीतिक स्थिरता बिखर चुकी थी। इस भिन्नता का लाभ उठाकर विदेशी मुसलमानो ने भारत पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये। आर्यजाति उनका मुकाबला न कर सकी। परदेसी आक्रमण के कारण देश मे अस्थिरता उत्पन्न हो गयी। ऐसे समय मे साहित्य की विशेष उन्नति नही हुआ करती। इस सन्दर्भ में इन्द्रजी का यह कहना सत्य है कि इस काल मे "सस्कृत की वह व्यापकता न रही जो पहले थी।···इसलिये सस्कृत-साहित्य की उन्नति के सामने एक चट्टान-सी लग गयी"। "राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक अत्याचार कविता के परमशत्रु हैं। मुसलमानो के समय मे इन तीनों प्रकार के अत्याचारो का दौर-दौरा था। तब भला कविता का विकास कैसे सम्भव था"। पराधीनकाल के कवियो मे एक पण्डितराज जगन्नाथ ही सर्वाधिक आदर के योग्य कवि हैं। इसके अतिरिक्त नव्य-न्याय व्याकरण और अलकारशास्त्र के भी ग्रन्थ लिखे गये, किन्तु इनमें साम्राज्यकाल जैसा आकर्षण दिखाई नही देता।

श्री इन्द्रजी के द्वारा लिखित सस्कृत-साहित्य के ऐतिहासिक अनुशीलन का अध्ययन करने के पश्चात् दो-तीन बातें विशिष्ट महत्त्व की प्रतीत होती हैं जो अन्य इतिहासो में नही मिलती। एक तो यह कि श्री इन्द्रजी ने साहित्य शब्द को ललित साहित्य के अर्थ मे प्रयुक्त किया है। उनकी मान्यता है कि साहित्य शब्द का मूल अर्थ यही है। इंग्लिश में Literature के अर्थ मे साहित्य शब्द को लिया जाता है, किन्तु वस्तुतः Literature के लिये सस्कृत मे वाङ्मय शब्द है।

दूसरी विशेषता यह है कि सस्कृत-साहित्य को इस प्रकार चार कालों में विभक्त करके पढने से सस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियों का मूल कारण समझ में आ जाता है। इन्द्रजी का यह प्रयास सचमुच प्रशस्य है।

# एक पथिक जो मौन-साधना कर गया !
# पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति

—श्यामसुन्दर स्नातक
आचार्य, गुरुकुल कागड़ी

भूमि अच्छी हो, बीज उत्तम हो, कृषक कृषिविद्या का पंडित हो, जागरूक हो, परिश्रमी हो, तो फसल अच्छी होने के आसार भी अच्छे होते हैं। यही है जीवनगाथा का श्रीगणेश। बाबा मुन्शीराम जी मे श्रीकृष्ण जी का तप नही था, जो विवाह के बाद १२ वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन करते - न उनकी तरह वे साङ्गोपाङ्ग विद्यावारिधि ही थे—परन्तु जो कुछ भी थे बहुत कुछ थे— उनके हृदय मे बीज था महान् होने का, तभी अग्नि से (स्वामी दयानन्द जी के दर्शन एव व्याख्यान श्रवण से) अग्नि प्रज्ज्वलित हो गई। इस का प्रभाव इतना तो हुआ ही कि मार्गदर्शन वे अपनी सन्तानो को एव समकालीन आत्म-चिन्तकों को उत्तम दे पाये परिणामत: गुरुकुल को मेधावी छात्र मिले। उनमे से एक थे श्री इन्द्र जी। जिस प्रकार से वे गुरुकुल मे प्रविष्ट हुए उसकी भी निराली कहानी है।

गुरुकुलस्थापना के उद्देश्य से धनसंग्रह मे प्रारम्भिक असफलता को देखकर मुन्शीराम जी दु:खी थे, उदास थे। कारण समझ मे नही आ रहा था। एक मित्र से अपनी व्यथा स्पष्ट कर उनके उत्तर से मुन्शीराम जी ने प्रेरित होकर अपनी झोली मे अपना सर्वस्व जो गेरा उसमे अपने दो पुत्र भी थे, अचल सम्पत्ति के साथ। इस समर्पणात्मक बीजारोपण से एक अद्भुत व्यक्तित्व का विकास प्रारम्भ हुआ।

सौभाग्य से प्राचीनकाल के ऋषि-मुनियों के तपोवनो की भांति रमणीय, एव प्रेरणादायक स्थान मे इनकी शिक्षा हुई। शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा जीवनयात्रा के इन चार साधनो का समय के प्रवाह के साथ-साथ उचित विकास भी होता गया। इसी बहुमुखी विकास का परिणाम था कि सार्वदेशिक सभा की सदस्यता-काल मे सभी तत्कालीन समस्याओ का समाधान इन्ही से पूछा करते थे। अनेक ऐसे अवसर आये जब सार्वदेशिक सभा की अंतरग सभा मे विवाद हो जाते थे, दोनो पक्ष अपने आप मे प्रबल होते थे, उस समय सबकी आँखें एकाएक उन्हीं पर जाती थी कि जो कुछ भी ये निर्णय लेंगे हमे स्वीकार होगा। अन्त में अनेक बार दोनो पक्ष सहमत हुए। प्रखर बुद्धि के धनी, शान्तचेत्ता, दूरदर्शी एव सरलता से कठिन समस्याओं व प्रश्नो का समाधान देने मे इनका कोई समकक्ष नही था। पूज्य प० प्रियव्रत जी, भूतपूर्व आचार्य एवं कुलपति ने सदैव यह तथ्य स्वीकार किया।

देशप्रेम की भावना में भी मान्य पंडित जी अपने समय के अद्वितीय थे। कई बार जेल गये। कई बार देश के उस समय के प्रमुख नेताओं के आह्वान पर आन्दोलन मे कूदे, कष्ट सहे। पंजाब के उत्सव पर एक बार श्री प्रो० सुखदेव जी दर्शनाचार्य ने इनके सम्बन्ध में एक बात बताई थी— वोले हम गुरुकुल कांगड़ी मे उस समय महाविद्यालय की कक्षाओं मे पढ रहे थे। मान्य प० इन्द्र जी हमारे प्राध्यापक थे, हम से एक भूल हो गई, इन्होंने हमें बुलाया, समझाया, कहा, स्वय ही पश्चाताप करलो, पश्चाताप से हृदय की शुद्धि हो जाती है। मन की मलिनता धुल जाती है। भविष्य मे व्यक्ति भूल नही करता।

अद्भुत लेखक थे, मनीषी थे। "आर्यसमाज का इतिहास" उनकी रचनाओ मे से एक उत्कृष्ट रचना है। यह कृति आर्यसमाज पर स्वतः एक ऋण है।

श्री प० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति लेखक ही नहीं थे, कवि भी थे। अब याद आया बचपन से हम उनका एक गीत अमरगीत के रूप मे प्रार्थनासभा में प्रातः बोलते चले आ रहे हैं।

तव वन्दन हे नाथ करें हम
तव चरणन की छाया पा कर
शीतल सुख उपभोग करें हम, तव......
भारत जननी की सेवा का
व्रत भारी व्रतनाथ धरें हम, तव ...

माता का दु:ख हरने के हित
न्योछावर निज प्राण करे हम, तव......
पाप शैल को तोड गिरावे
वेदाज्ञा इक शीश धरे हम, तव ...

राग द्वेष को दूर भगाकर
प्रेम मन्त्र का जाप करें हम, तव......
फूले गुरुकुल की फुलवारी
विद्या मधु का पान करें हम, तव......

सायं प्रातः तुझ को ध्यावें
दु:ख सागर के पार तरें हम, तव......

(इन्द्र विद्यावाचस्पति रचित)

मुझे याद है जब पंडित जी दिवगत हुए, भारत सरकार ने राष्ट्र-ध्वज झुका दिया था उनकी स्मृति में।

इस प्रकार मेधा बुद्धि सम्पन्न, मनीषी, दूरदर्शी, स्फुट वक्ता, सुवक्ता, सुकवि, प्रत्युत्पन्न मति, राष्ट्रभक्त वैदिकधर्मी महान् आत्मा को मेरा शतशः प्रणाम।

# प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना

—डा० महावीर
रीडर, संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपनी सारस्वत साधना से वैदिक-साहित्य की श्री-वृद्धि के साथ गद्य-पद्यमयी हिन्दी एवं संस्कृत भाषा के माध्यम से देशवासियों के हृदयों में राष्ट्र, धर्म एवं अपनी संस्कृति के प्रति उदात्त भावों के जागरण हेतु इतिहास, उपन्यास, जीवन-चरित, संस्मरण आदि विभिन्न ग्रन्थों की सर्जना की है। उनकी रचनाधर्मिता केवल आर्यसमाज की सीमाओं में ही सीमित न रही अपितु उसने साहित्य गगन में मुक्त रूप में विचरण किया है। सामाजिक अथवा राष्ट्रीय समस्या का कोई भी पक्ष उनकी दृष्टि से ओझल नहीं था। अपने महान् पिता स्वामी श्रद्धानन्द से राष्ट्रीयता के विचार उन्हें धरोहर के रूप में प्राप्त थे। उनका बाल्यकाल अथवा शिक्षणकाल वह महत्त्वपूर्ण समय था, जब परतन्त्र भारत पराधीनता की जंजीरों को छिन्न-भिन्न करने के लिए सिंह की भांति अगड़ाई लेकर खड़ा हो चुका था। बंग-भंग की महत्त्वपूर्ण घटना इसी समय घटित हुई। कन्हाईदत्त को फांसी दी गई। अरविंद घोष को जेल भेज दिया गया। 'लाल–बाल–पाल' का नाम राजनीति में आंधी और तूफान की तरह आया। तिलक को माडले जेल में कैदी बनाकर रखा गया।

इन समस्त घटनाओं का प्रभाव इन्द्र जी के किशोर मन पर व्यापक रूप से अंकित हो गया। राष्ट्रीयता की भावना उन दिनों आर्यसमाज और विशेषरूप से गुरुकुल कांगड़ी में अध्ययनरत ब्रह्मचारियों के दिलों में प्रचण्डरूप में प्रज्ज्वलित थी। इन्द्र जी के छात्र-जीवन में लिखित इस गीत में देशभक्ति का कैसा सुन्दर भाव अभिव्यक्त हो रहा है—

"हे मातृ–भूमि तेरे चरणों में सिर नवाऊँ,
मैं भक्ति भेंट अपनी तेरी शरण में लाऊँ।
तेरे ही काम आऊँ, तेरा ही मंत्र गाऊँ,
मन और देह तुझ पर, बलिदान मैं चढ़ाऊँ॥"

राष्ट्रप्रेम की यह उदात्त भावना इन्द्र जी की प्रत्येक कृति में, प्रत्येक लेख में और

अर्जुन के प्रत्येक सम्पादकीय में दृष्टिगोचर होती है। यदि यह कहा जाय कि उनकी साहित्य साधना का मूलस्वर राष्ट्रीयता ही था, तो अत्युक्ति न होगी। महात्मा मुन्शीराम द्वारा सम्पादित "सद्धर्मप्रचारक" के सम्पादन का अधिकाश भार पं० इन्द्र जी पर ही था। क्योकि महात्मा मुन्शीराम जी को गुरुकुल के कार्य से बाहर जाना पड़ता था। उन दिनो इन्द्र जी के राजनैतिक विषयो पर लिखे गये सम्पादकीय लेख बड़ी रुचि से पढ़े जाते थे। वे उग्र राष्ट्रीयता के दिन थे जब अनेक क्रांतिकारी गुरुकुल से जुड गये थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि इन्द्र जी ने प्रसिद्ध क्रातिकारी नेपोलियन बोनापाट, प्रिन्स बिस्मार्क, गेरीबाल्डी आदि के जीवन-चरित लिखकर देशभक्ति की ज्वाला जलाई। इन्द्र जी नियमित रूप से डायरी मे आत्मकथा लिखा करते थे। उनकी डायरी के पृष्ठ इस तथ्य के साक्षी हैं कि शरीर रुग्ण होते हुए भी उनका मन और हृदय अजेय योद्धा की भाँति सदैव मातृभूमि की रक्षा के लिए सन्नद्ध रहते थे। अपनी डायरी मे एक स्थान पर वे लिखते हैं—

"मैंने खूब सोचा है कि मातृभूमि कई पुत्रो का बलिदान चाहती है। बलिदान, यह नही कि एक क्षणभर जीकर मृत्यु, अपितु अपना दीर्घ जीवन केवल मातृभूमि को अर्पित कर दे।"

इन्द्र जी के जीवन मे एक ऐसा समय भी आया, जब वे गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने अथवा न करने के ऊहापोह मे स्वयं को उलझा हुआ पाते हैं। अपनी ऐसी मानसिकता का चित्र प्रस्तुत करते हुए उन्होने लिखा—

"अपना विवाह यदि किसी के साथ करूँगा तो राष्ट्र के साथ। मातृभूमि और मेरे बीच मे कोई व्यवधान नही आ सकता।"

इन्द्र जी ने जहाँ अनेक उच्च कोटि के गद्य-ग्रन्थों की सर्जना की, वहाँ विद्यार्थी जीवन से ही मातृभूमि की वन्दना, ईशस्तुति आदि उनकी कविताओं तथा गीतो के प्रमुख विषय रहे। कुल-वन्दना का निम्न गीत कैसे भव्य-भावों से भरा हुआ है—

"प्राणों से हमको प्यारा कुल हो सदा हमारा,
विष देने वालों के भी बन्धन कटाने वाले,
ऋषियों का जन्मदाता, कुल हो यही हमारा,
कट जाए सिर न झुकना, यह मंत्र जपने वाले,
वीरो का जन्मदाता कुल हो सदा हमारा॥"

प्रो० इन्द्र जी का सम्पूर्ण जीवन संघर्ष, तप, त्याग और बलिदान की अमर गाथा है, उनकी लेखनी भी सदैव इसी प्रकार की ओजस्वी भावनाओ को मुखरित करती रही।

३० दिसम्बर १९४६ को वीर अर्जुन के अग्रलेख में उन्होंने आग उगलते हुए लिखा था—

"जो व्यक्ति या जाति आततायी की तलवार का जवाब तलवार से नहीं देती, वह पराजय से भी नष्ट तो हो ही जाती है, और यदि किसी कारण से नष्ट होने से बच गयी तो दासता की जंजीरो मे जकड़ी जाती है। यह सर्वसम्मत बात है कि दासता विनाश से भी अधिक कुत्सित और लज्जाजनक वस्तु है।

जीवनसंग्राम नामक अपनी उत्कृष्ट रचना के प्रारम्भ में "विजय रहस्यम्" नाम से इन्द्र जी ने ११ श्लोक लिखे है, जिनमे उनका जीवन के प्रति दृष्टिकोण अभिलक्षित होता है। उदाहरण रूप मे निम्न दो पद्य दर्शनीय हैं—

'सबला एव जीवन्ति, विलीयन्ते नु निर्बलाः।
व्यापको नियमो दृष्टो जीवेष्वेष सनातनः॥
युद्धेन योऽयो जयति, क्लीबो युद्धेन नश्यति।
तस्माद् युद्धे तुलादण्डे, राष्ट्रात्मा मुच्यते बुधैः॥

प्रो० इन्द्र जी की श्रेष्ठतम रचनाओं मे से एक है "भारतेतिहास" जो कि हरयाणा साहित्य संस्थान गुरकुल झज्जर से १९७० मे प्रकाशित हुई। यह अद्यावधि लिखे गये भारतवर्ष के इतिहासो की परम्परा से हटकर सर्वथा नूतन एव अभिनव शैली मे किया गया सर्वथा मौलिक कार्य है। इसमें रसहीन भाषा में इतिहास की घटनाओ का ब्यौरेवार सकलन मात्र ही नही है, अपितु देशवासियो के हृदयो को रसाप्लावित कर अत्यन्त माधुर्य के साथ कान्ता–सम्मित शैली मे अपने देश तथा संस्कृति के प्रति प्रेम और गौरव का भावना जगाने का सफलतम प्रयास है। मधुर छन्दो, विविध अलकारों, रमणीय रस प्रयोगों तथा प्रकृति के हृदयहारी चित्रो से परिपूर्ण इन्द्र जी की कविता ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द की सृष्टि के साथ जहाँ वाल्मीकि और कालिदास का स्मरण कराती है, वहाँ वेद, दर्शन एव स्मृतियो के निगूढतम रहस्यो को अत्यन्त सरस एव सरल शब्दावली मे अनावृत्त करती है। यह सब होते हुए भी इन्द्र जी की साहित्यसर्जना का उत्स 'राष्ट्रीयता' इसमे भी प्रारम्भ से अन्त तक अविछिन्न रूप से प्रवाहित हो रहा है। जैसे महाकवि कालिदास का हृदय शृगार मे, महाकवि भवभूति का करुणा मे रमण करता है वैसे ही प्रो० इन्द्र का मन देश-भक्ति की भावना मे रमता है। आइये "भारतेतिहास" मे अभिव्यञ्जित इतिहासकार कवि की राष्ट्रीयता का किञ्चित् रसास्वादन करें।

आदिकवि वाल्मीकि, महाभारतकार वेदव्यास, कविकुलगुरु कालिदास, तथा अनेक कवीश्वरो ने भारत की महिमा का गुणगान करते हुए इसे सम्पूर्ण वसुन्धरा का अलकार माना है। भारत का गौरवगान करने में इन महाकवियो ने स्वय को धन्य माना। प्रो० इन्द्र जी भी उन्ही के स्वर में स्वर मिलाकर भारतमाता की स्तुति करते हुए

कहते हैं—

धात्रा कृतो विश्वललाम भूतः,
सौन्दर्यशाली हिमवान् गिरियं.।
स यस्य मूर्धानमलकरोति,
स मे प्रियो भारतभव्यदेशः ॥
गङ्गाशुतुद्रीयमुनादि नद्यो–
यस्य प्रसूतिम्प्रतिपालयन्ति ।
यो रामसीता चरणप्रपूत.,
स मे प्रियो भारतभव्यदेश. ॥
महर्षिभिर्यत्र ऋचः प्रगीताः
पूता च वाणी कविभिः पुराणैं ।
गीतोपदिष्टा च जनार्दनेन
स मे प्रियो भारतभव्यदेश. ॥
विन्ध्याचले यस्य विशाल वक्षः
पूर्वापरौ बाहुसमौ नगेन्द्रौ ।
पयोधिना धौतपद. प्रकाम
स मे प्रियो भारतभव्यदेश ॥

भारतेतिहास १–२५ २६,२७–से।

मानवजाति के आद्य महीपति मनु के प्रति अपनी अगाध आस्था और नत्कालीन भारतवर्ष की चक्रवर्तिता की सपुष्टि करते हुए कवि कहता है—

'आसीन्नृपो मनुर्नाम प्रथमश्चक्रवर्तिनाम् ।
सप्तद्वीपा बसुमती योऽन्वशिषत् कृते युगे ।। ३–७

भारतदेश का यह गौरवपूर्ण इतिहास रहा है कि दिलीप, रघु, अज, दशरथ, श्रीराम और दुष्यन्त, भरत आदि श्रेष्ठ नरपुंगवो ने यहाँ अखण्ड साम्राज्य का शासन करते हुए प्रजा का स्व–सन्ततिवत् पालन-पोषण किया है। महाराजा भगीरथ द्वारा जन–जन के कल्याणार्थ हिमालय से धरती पर गगा के अवतरण की कथा भारतीय राजाओ के श्लाघनीय चरित्रो का श्रेष्ठ अध्याय है। नगाधिराज हिमालय और पुण्यसलिला गगा इस देश का गौरव हैं। महाकवि इन्द्र ने गगावतरण का अत्यन्त भावप्रवण चित्रण करते हुए लिखा—

'सुशीतला तापहरां स्रवन्ती,
नृपः स मेने तपतीमिवोल्काम् ।
चित्तेषु धान्येषु निकृत्य भूमौ,
कृषीवलो वृष्टिमिवारितुल्याम् ॥ ११–७–२६

कवि हिमालय—गंगा आदि के चारुचित्रण से तथा प्राचीन राजाओं के महनीय चरित्रों का गुणगान कर देशवासियों के स्वाभिमान को जागृत कर, राष्ट्रीयता का उद्घोष करना चाहता है। वह यह सत्य सबके हृदयों में अंकित कर देना चाहता है कि संसार मे सबल विजयी होते हैं तथा निर्बल विनाश को प्राप्त करते हैं। जीवनसंघर्ष की शक्ति मानव को अजेय बनाती है। वे जीवनसंग्राम में कहते हैं—

"जातियाँ और साम्राज्य बने और नष्ट हो गये। जब तक उनमे जीने की और जीतने की शक्ति बनी रही, वे समय की चोटों को सहकर भी जीवित रहे, परन्तु ज्यो ही उनकी जीवन-संघर्ष मे सफल होने की शक्ति कम हुई, त्यो ही वे बर्बाद हो गये।"

राष्ट्र के गौरव और विजय के लिए प्रो० इन्द्र जी ने शारीरिक बल के साथ-साथ चरित्र की दृढ़ता पर भी बहुत बल दिया है। उनका प्रत्येक शब्द आज भी देशवासियो मे अपने राष्ट्र एवं संस्कृति के प्रति प्रेम और श्रद्धा के उदात्त भावो को जगाने मे सक्षम है।

---

# निकष पर

## (पुस्तक-समीक्षा)

| | | |
|---|---|---|
| पुस्तक का नाम | — | **द कॉनसेप्ट ऑफ लेंग्वेज** |
| लेखक | — | **डा० उमरावसिंह बिष्ट** (प्राध्यापक, दर्शन विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय) |
| प्रकाशक | — | **भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली, वाराणसी** |
| पृष्ठ संख्या | — | १६२ |
| मूल्य | — | १५० रुपये |

इस पुस्तक से पूर्व डा० बिष्ट की 'जैन थ्योरी ऑफ नालेज एण्ड रियल्टी' पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। यह उनकी दूसरी कृति है। प्रस्तुत पुस्तक शब्द और उसके अर्थ पर प्रचलित विविध दार्शनिक मान्यताओं का आलोचनात्मक सर्वेक्षण है। भाषादर्शन की दिशा में विद्वान् लेखक द्वारा किए गए इस कार्य का रचनात्मक महत्त्व है। भारतीय आचार्यों ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जो मौलिक उद्भावनाएँ की हैं, उनमें भाषाविषयक चिन्तन अत्यन्त प्रौढ और नवीन है। मानवीय ज्ञान के इतिहास में शब्द का रूप, ध्वनि और अर्थगत जैसा सूक्ष्म तात्विक विवेचन भारत में हुआ है, अन्यत्र विरल देखने को मिलता है। दार्शनिक दृष्टि से मीमांसा, न्याय और वेदान्त के आचार्यों ने शब्दार्थ की प्रक्रिया पर अपने-अपने ढंग से विचार किया है। व्याकरणदर्शन और साहित्यशास्त्र में इन प्रक्रियाओं की स्पष्ट झलक मिलती है। स्फोट, ध्वनि, संकेतग्रह, अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, शब्दबोध (आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि, तात्पर्य), अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा ध्वनि के अनेक भेदोपभेदों का जैसा सविस्तार विवेचन यहाँ मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। वैदिकयुग से लेकर आधुनिक युग तक की परिष्कार प्रणाली तक शब्दार्थ की बारीकियों पर विचार होता रहा है। न्यास का प्रचार व्याकरण के छात्र अध्येताओं के लिए तथा परिष्कार का प्रचार व्याकरण के प्रौढ विद्वानों के निमित्त हुआ। इस शैली का प्रवर्तन आचार्य नागेशभट्ट से हुआ तथा इसका विस्तार उनके उत्तरकालीन टीकाकारों द्वारा हुआ। परिष्कार शैली काशी के वैयाकरणों का मौलिक अवदान है।

भर्तृहरि ने तो स्फोटरूपी शब्द को ब्रह्म स्वीकार कर संसार को शब्दब्रह्म का विवर्त ही मान लिया है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतोयतः ।

शब्द को नैयायिकों ने अनित्य तथा मीमांसकों ने नित्य माना है । वैयाकरणों ने इन दोनों मान्यताओं का खण्डन करके स्फोटवाद का नवीन सिद्धान्त प्रवर्तित किया । इस सिद्धान्त मे ध्वनिरूप शब्द को अनित्य माना गया है परन्तु स्फोटरूप शब्द को नित्य माना गया है । इसका तात्पर्य हुआ कि अर्थ के प्रकाशन की क्षमता स्फोट मे है, ध्वनि मे नही । काश्मीरी तन्त्रशास्त्रियो ने वैयाकरणो के शब्दाद्वैतवाद का खण्डन किया है । आचार्य सोमानन्द ने अपने शिवदृष्टि ग्रन्थ मे भर्तृहरि की अनादि निधन ब्रह्म कारिका उद्धृत की है ।

पतंजलि ने 'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धि निर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाश देशः शब्द.' कहकर यह स्वीकार किया है कि शब्द कान से प्राप्य, बुद्धि से ग्राह्य तथा प्रयोग से स्फुरित होने वाली आकाशव्यापी ध्वनि है । अत. शब्द उच्चरित, श्रवणयोग्य, बुद्धिग्राह्य तथा अर्थबोधक होता है । शृ गारप्रकाश मे भी 'येनोच्चारितेन अर्थ प्रतीयते स शब्द' कहकर उच्चरित होते ही उसका अर्थ की प्रतीति कराना आवश्यक गुण स्वीकार किया गया है । अर्थ के स्तर पर शब्द ही भाषा की लघुतम इकाई है । यास्क ने 'चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' कहकर शब्द का नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात— नाम से चतुर्विध व्याकरणिक वर्गीकरण किया है । बाद मे इतिहास, रूप, अर्थ, प्रयोग तथा प्रयोग मे परिवर्त्तनशीलता और अपरिवर्त्तनशीलता के आधार पर शब्द का वर्गीकरण किया गया । कहना यह कि शब्दविज्ञान की स्थापना इसी देश मे हुई और दर्शन, व्याकरण तथा साहित्यशास्त्र मे इसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन होता रहा । मेरा विचार है कि व्याख्यान या सवादशैली से पतजलि ने व्याकरणदर्शन का जो भव्य प्रासाद खड़ा किया, उसी पर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय तथा नागेश ने मजूषा की परिकल्पना की । 'वाक्यपदीयकार' ने तो यहाँ तक कह डाला –सर्वेषा न्यायबीजाना महाभाष्ये निबन्धने । मीमासा, न्याय और शैवदर्शन के साथ वैयाकरणो के चिन्तन का उपयोग साहित्यशास्त्र मे आनन्दवर्धनप्रभृति ध्वनिवादी आचार्यों ने किया । मम्मट तथा मुकुलभट्ट ने गहराई के साथ विचार किया । मम्मट ने भट्टनायक तथा महिमभट्ट को निरस्त कर स्फोटादि पर विचार किया तथा अपने सिद्धान्त को सुदृढ किया । वस्तुतः अर्थ के तीन भेदो पर विचार करते हुए उन्होने सकेतग्रह, पदशास्त्र (व्याकरण), प्रमाणशास्त्र (न्याय) तथा वाक्यशास्त्र (मीमासा) पर विचार किया । कुमारिल और पार्थसारथि मिश्र के अभिहितान्वयवाद तथा प्रभाकर और शालिकनाथ मिश्र के अन्विताभिधानवाद का विवेचन किया । सकेतग्रह पर न्यायशास्त्र तथा बौद्धों के अपोहवाद का परिचय भी काव्यप्रकाश मे उपलब्ध है । इन सभी मतो से मम्मट मतभेद रखते हैं अतः उनके टीकाकार नरसिंह ठक्कर ने मम्मट को इन मतो का

विरोधी माना है पर मम्मट जब 'बुधैर्व्याकरणै' लिखकर स्वकीय सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं तब महाभाष्यवाद को प्रमाण मानते हैं। 'शब्द व्यापार विचार' प्रकरण मे मम्मट ने वैयाकरणो के जाति आदि चार प्रकार के संकेतग्रह को स्वीकार कर व्याकरण सिद्धान्त के प्रति आस्था व्यक्त की है। जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा रूप धर्मों मे सकेतग्रह मानना उन्हे अभीष्ट है, वह मीमासको की तरह केवल जाति या व्यक्ति अथवा नैयायिको की तरह न जाति न व्यक्ति अपितु जाति विशिष्ट व्यक्ति मे सकेतग्रह मानना उचित नही समझते।

प्रसन्नता का विषय है कि डा० बिष्ट ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक मे जहाँ भाषा के विभिन्न अंगों की विश्लेषणात्मक व्याख्या का प्रयास किया है, वहाँ शब्द एव अर्थ से सम्बन्धित विभिन्न मतो की सरल व्याख्या भी की है। सकेतग्रह, स्फोट, अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद तथा शब्द की नित्यता-अनित्यता पर गहराई से विचार किया है। शब्द को प्रमा का स्वतत्र 'करण' समझा जाए या नही, इस पक्ष पर पुस्तक मे विशेष चर्चा हुई है। डा० बिष्ट ने पाश्चात्यदर्शन के अध्येता होते हुए भी जिस ईमानदारी और स्वाध्यायशीलता से इस विषय पर लेखनी उठाई है, वह उनके साहस और निष्ठा दोनो की सूचना देती है। उन्होने सस्कृत के मूलग्रन्थो, उनके प्रामाणिक अनुवादो और अधिकृत व्याख्याओ का उपयोग किया है। उन्होने परिशिष्ट मे मूल स्रोतो तथा तद्जीवी द्वितीय स्रोतो के ग्रन्थो की सूची देकर अपनी चिन्तनसामग्री की ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट किया है। छह अध्यायो मे विभाजित इस पुस्तक मे अर्थ की प्रकृति, अर्थबोध की प्रक्रिया, भाषिक इकाई, तथा शब्दार्थ के बीच सम्बन्ध को धुरी बनाकर अपनी बात कही है। मेरा विश्वास है कि भाषादर्शन के विद्यार्थियो तथा विद्वानो को यह पुस्तक पसन्द आएगी तथा विवेचन और निष्कर्ष की लेखकीय प्रक्रिया से उन्हे नये ढग से सोचने का अवसर मिलेगा। भाषादर्शन की मूलभूत समस्याओ पर यदि यह पुस्तक पाठको का ध्यान आकृष्ट कर सकी तो इसकी सफलता होगी। मैं डा० बिष्ट को इस अध्ययन के लिए साधुवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य मे भाषादर्शन पर वह और प्रौढ कार्य करेगे।

— डा० विष्णुदत्त राकेश

× × ×

| | | |
|---|---|---|
| पुस्तक का नाम | — | **इक्कीसवीं सदी आगे है (काव्य-संग्रह)** |
| लेखक | — | **डा० चन्द्रविजय चतुर्वेदी** |
| प्रकाशक | — | **११७ सी/७, मीरापुर, इलाहाबाद** |
| पृष्ठ स० | — | **६२** |
| मूल्य | — | **पच्चीस रुपये** |

डा० चन्द्रविजय चतुर्वेदी का काव्य-सग्रह 'इक्कीसवी सदी आगे है' देखने को मिला। सग्रह आज की कविता का प्रतिनिधित्व करता है। उस आज का जो 'उस काल का प्रतिफल है जिसने अन्याय, अनीति को सबसे अधिक भोगा ही नही, उसके प्रतिकार के लिए सर्वाधिक सघर्ष भी किया है।' चतुर्वेदी जी राजकीय महाविद्यालय मे रसायनशास्त्र के प्राध्यापक हैं। अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ साहित्य-सर्जना मे भी उनकी गहरी रुचि है। अब तक उनके शताधिक लेख, कविताएँ, कहानियाँ तथा एकांकी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुके हैं। विज्ञान के विषयो पर भी उन्होने बहुत लिखा है।

चतुर्वेदी जी देश की माटी से जुडे रचनाकार हैं। वर्तमान जीवन की सच्चाइयो को उन्होने निकट से अनुभव किया है। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ बहुत गहरे तक हृदय को छूती हैं और हमे कुछ सोचने पर विवश करती हैं।

प्रस्तुत सग्रह मे कुल सत्ताईस कविताएँ हैं। पहली कविता का शीर्षक है 'इक्कीसवी सदी आगे है।' यह कविता ही पूरे सग्रह के प्रतिनिधित्व को मुखरित करती है। इसमे व्यग्य के माध्यम से कवि यह बताना चाहता है कि कहने को तो हम प्रगति की इक्कीसवी सदी मे प्रवेश करने जा रहे हैं, पर सच्चाई यह है कि हम अभी बीसवी सदी से भी पीछे हैं। बल्कि यह कहा जा सकता है कि हर व्यक्ति की अलग-अलग सदी है—

इस देश का हर आदमी
बीसवी सदी मे नही जी रहा है
कोई उन्नीसवी सदी को
सीने से चिपटाये है
कोई अठारहवी सदी को
मस्ती मे ओढे है
कोई सत्तरहवी सदी के साथ
आराम से घूम रहा है।

कवि की गूढोक्ति वहाँ मुखर हो उठती है, जब वह यह कहता है कि—

कही मेरा प्यारा देश
मुझे यही बीसवी सदी मे छोड़कर

खुद इक्कीसवी सदी में न चला जाय
या अपने देश को
इसी सदी मे छोड़कर
मैं खुद इक्कीसवी सदी मे न चला जाऊँ।

संग्रह की अन्य कविताओ में 'कविता की तलाश', 'लोकतन्त्र की यात्रा', 'उनको भाव पता नही', 'विजयदशमी की साँझ', 'आदमी और कुर्सी', 'खुशहालियो का गाँव', 'एक और मुअनजोदडो', 'झाँकी एक . चित्र अनेक', 'सूर्य का इन्तजार' तथा 'बबूल के दरख्त' निश्चित ही पढने योग्य हैं। इन कविताओ मे शोषण-मूलक समाज-व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह का स्वर मुखरित हुआ है। यह व्यवस्था ही प्रगति के मार्ग मे वास्तविक बाधा है। आज देश के नेता और नौकरशाह ही देश को बरबाद कर रहे हैं। गरीब किसानो और मजदूरों का शोषण हो रहा है। ऐसे मे देश को इक्कीसवी सदी मे ले जाने की बात बेमानी-सी लगती है। 'लोकतन्त्र की यात्रा' शीर्षक कविता मे कवि, देश की हालत का चित्रण करते हुए लिखता है—

बरसों लोकतंत्र बेचारा
यह न जान पाया
कि फरवरी तक गेहूँ के लहलहाते खेतो को
मार्च मे कौन चर जाता है।

बाद की पंक्तियो मे तो इस व्यवस्था का पूरी तरह से पर्दाफाश कर दिया गया है।

'बबूल के दरख्त' शीर्षक कविता भी वर्तमान का इसी प्रकार का चित्र प्रस्तुत करती है—

अपने ही देश ने
प्यारे गाँव को
आम खाने के लिए
कुछ पेड़ भेजे थे
सामुदायिक विकास,
पचायत, ब्लाक, सहकारिता,
चुनाव, चकबन्दी, शिक्षाप्रसार,
आदि-आदि किस्मो के आम,
जो बढकर—
बबूल के दरख्त हो गये हैं।

कुल मिलाकर यह सग्रह बहुत अच्छा है। हिन्दी काव्य-जगत् मे इसका निश्चित ही सम्मान होगा।

एक त्रुटि की ओर भी सकेत कर देना चाहूँगा। जो पुस्तक समीक्षार्थ भेजी गयी है, उसकी पृष्ठ सख्या मे भारी उलट-फेर है। सोलह पृष्ठ तो बिल्कुल गायब हैं, जबकि बीस पृष्ठ दुबारा आ गये हैं। इसे ठीक कर लेने की जरूरत है।

**—डा० सन्तराम वैश्य**
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

———